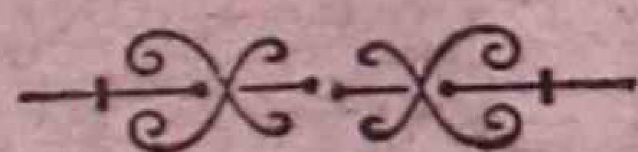
* श्रीगणेशाय नमः *

चाणक्यनीतिदर्पण

अर्थात्

राजनीति-समुच्चय

पूर्वार्द्ध



पहला अध्याय

प्रणम्य शिरसा विष्णुं त्रैलोक्याधिपतिं प्रभुम् ।
नानाशास्त्रोद्धृतं वक्ष्ये राजनीतिसमुच्चयम् ॥ १ ॥

दो० प्रभु त्रिलोकपति श्रीहरिहिं करि सिर नाय प्रणाम ।
बहु शास्त्रन उद्धृत कहौं नीतिसमुच्चय नाम ॥ १ ॥

तीनों लोकों के स्वामी, सर्वशक्तिमान् विष्णु को सिर से प्रणाम करके, अनेक शास्त्रों से निकालकर राजनीतिसमुच्चय-नाम के ग्रन्थ को कहूँगा ॥ १ ॥

अधीत्येदं यथाशास्त्रं नरो जानाति सत्तमः ।
धर्मोपदेशविख्यातं कार्याऽकार्यं शुभाशुभम् ॥ २ ॥

दो० विधिवत उत्तम शास्त्र यह पढ़िकै जानत आर्य ।
धर्मशास्त्र-विख्यात शुभ अशुभ कार्य सु अकार्य ॥ २ ॥

जो इसको विधिवत् पढ़कर धर्मशास्त्र में प्रसिद्ध कार्य और अकार्य, शुभ और अशुभ कार्य को जानता है, वह उत्तम मनुष्य माना जाता है ॥ २ ॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वज्ञत्वं प्रपद्यते ॥ ३ ॥

दो० तिहि मैं कहिहौं लोकहित निज इच्छा अनुसार ।
जिहि के जाने होत है नर सर्वज्ञ उदार ॥ ३ ॥

मैं लोगों के हित की इच्छा से इसको कहूँगा, जिसके जानने ही से मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है ॥ ३ ॥

मूर्खशिष्योपदेशेन दुष्टस्त्रीभरणेन च ।
दुःखितैः संप्रयोगेण पण्डितोऽप्यवसीदति ॥ ४ ॥

दो० मूर्ख शिष्य उपदेश करि, पोषत नारी दुष्ट ।
होत दुखित के संग ते बुधहू के दुख पुष्ट ॥ ४ ॥

निर्बुद्धि शिष्य को पढ़ाने से, दुष्ट स्त्री के पोषण से, दुखियों के साथ व्यवहार करने से पण्डित भी कष्ट पाता है ॥ ४ ॥

दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः ।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः ॥ ५ ॥

दो० दुष्ट नारि, शठ मित्र अरु उत्तरदायक दास ।
मृत्युरूप संशय नहीं, अरु जिहि घर अहिबास ॥ ५ ॥

दुष्ट स्त्री, शठ मित्र, उत्तर देनेवाला दास और साँपवाले घर में वास, ये मृत्युस्वरूप ही हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं ॥ ५ ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ ६ ॥

दो० आपद हित धन राखिये, धन से राखिय तीय।
धन से, तिय से राखिये सबै काल निज जीय॥ ६॥

आपत्ति दूर करने के लिए धन को बचाना चाहिए; धन से स्त्री की रक्षा करनी चाहिए; सब काल में स्त्री और धन से भी अपनी रक्षा करना उचित है॥ ६॥

आपदर्थे धनं रक्षेच्छ्रीमतश्च किमापदः।
कदाचिच्चलिता लक्ष्मीः सञ्चितोऽपि विनश्यति॥ ७॥

दो० आपद हित धन राखिये, धनिहि आपदा नाहिं।
जाहिं कदाचित लच्छमी संचित हू नसि जाहिं॥ ७॥

विपत्ति निवारण करने के लिए धन की रक्षा करना उचित है। क्या श्रीमानों को भी कभी आपत्ति आती है? हाँ, कदाचित् दैवयोग से लक्ष्मी चली जाती है तो उस समय संचित भी नष्ट हो जाता है॥७॥

यस्मिन् देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च बान्धवाः।
न च विद्यागमोऽप्यस्ति वासं तत्र न कारयेत्॥ ८॥

दो० जौन देश आदर नहीं, वृत्ति न, बान्धव नाहिं।
नहिं विद्या को लाभ है, बास न करु तिहि माहिं॥ ८॥

जिस देश में न आदर है, न जीविका, न बन्धु और न विद्या का लाभ, वहाँ वास नहीं करना चाहिए॥ ८॥

धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पञ्चमः।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत्॥ ९॥

दो० धनी, वेदपाठी, नृपति, नदी, वैद्य ये पाँच।
रहत नहीं जिहि ठौर तहँ इक दिन बसिय न, साँच॥ ९॥

धनिक, वेद का ज्ञाता, राजा, नदी और वैद्य, ये पाँच जहाँ विद्यमान न हों, वहाँ एक दिन भी वास न करना चाहिए॥ ९॥

लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात्तत्र संस्थितिम् ॥१०॥

दो० लाज, कुशलता, जीविका, भय अरु करिबो दान ।
पाँच जहाँ नहिं तहँ कबहुँ बास न करैं सुजान ॥ १० ॥

जीविका, भय, लज्जा, अनुकूलता और देने की प्रकृति, ये पाँच बातें जहाँ न हों, वहाँ न रहना चाहिए ॥ १० ॥

जानीयात्प्रेषणे भृत्यान् बान्धवान् व्यसनागमे ।
मित्रं चापत्तिकालेषु भार्यां च विभवक्षये ॥ ११ ॥

दो० सेवक परखिय काम में, बान्धव संकट भारि ।
विपद काल में मित्र को, विभव-नाश में नारि ॥ ११ ॥

काम में लगाने पर सेवकों की, दुःख आने पर बान्धवों की, विपतिकाल में मित्र की और विभव का नाश होने पर स्त्री की परीक्षा होती है ॥ ११ ॥

आतुरे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसङ्कटे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥ १२ ॥

दो० रोग, शोक, दुर्भिक्ष, अरि संकट भये कुरंग ।
राजद्वार, मसान में, सोई बन्धु जो संग ॥ १२ ॥

बीमार होने पर, कष्ट पड़ने पर, अकाल पड़ने पर, वैरियों से संकट आने पर, राजा के समीप और श्मशान में जो साथ देता है वही बन्धु है ॥ १२ ॥

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि ॥ १३ ॥

दो० निश्चित छोड़ि अनिश्चितहि जो नर सेवत जाय।
अध्रुव ताको नष्ट ही ध्रुव हू जाय नसाय॥ १३॥

जो निश्चित को छोड़कर अनिश्चित के लिए दौड़ता है, उसके निश्चित का भी नाश हो जाता है और अनिश्चित तो नष्ट ही है॥१३॥

वरयेत्कुलजां प्राज्ञो विरूपामपि कन्यकाम्।
रूपशीलां न नीचस्य विवाहः सदृशे कुले॥ १४॥

दो० पंडित ब्याहै सुकुल की, कन्या जदपि कुरूप।
नीच न ब्याहै सुन्दरी, सम बिवाह अनुरूप॥ १४॥

बुद्धिमान् को चाहिए कि उत्तम कुल की कुरूपा कन्या के साथ विवाह कर ले; नीच कुल की कन्या यदि सुन्दरी हो, तो भी उसके साथ विवाह न करे; क्योंकि विवाह तुल्य कुल में ही विहित है॥१४॥

नदीनां शस्त्रपाणीनां नखिनां शृङ्गिणां तथा।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च॥ १५॥

दो० नदी, शस्त्रधारी, नखी, शृंगी पशु, जो पास।
नारि, राजकुल को नहीं भूलि करहु विश्वास॥ १५॥

नदियों का, शस्त्रधारियों का, नखवाले और सींगवाले पशुओं का, स्त्रियों का और राजकुल का विश्वास न करना चाहिए॥ १५॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम्।
नीचादप्युत्तमां विद्यां स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥ १६॥

दो० बिष सों अमृत, कुठौर सों कंचन लेहु निकारि।
उत्तम विद्या नीच सों, दूषित कुल सों नारि॥ १६॥

विष में से भी अमृत को, अशुद्ध पदार्थों में से भी सोने को, नीच से भी उत्तम विद्या को और दुष्टकुल से भी स्त्रीरत्न को लेना योग्य है॥१६॥

स्त्रीणां द्विगुणआहारो लज्जा चापि चतुर्गुणा।
साहसं षड्गुणं चैव कामश्चाष्टगुणः स्मृतः ॥ १७ ॥

दो० पुरुषन सों तिय को दुगुन भोजन, चौगुन लाज।
साहस छगुनो, अठगुनो अधिक काम को साज ॥ १७ ॥

पुरुष से स्त्रियों का आहार दूना, लज्जा चौगुनी, साहस छगुना और काम अठगुना होता है ॥ १७ ॥

दूसरा अध्याय

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभिता।
अशौचत्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥१॥

दो० साहस, माया, झूठ अरु लोभ, मूर्खता, रोष।
निठुराई, अपवित्रता स्वाभाविक तियदोष ॥ १ ॥

असत्य बोलना, विना विचारे किसी काम में झटपट लग जाना या साहस, छल, मूर्खता, लोभ, अपवित्रता और निर्दयता, ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष हैं ॥ १ ॥

भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वराङ्गना।
विभवो दानशक्तिश्च नाल्पस्य तपसः फलम् ॥ २ ॥

सो० भोजन, भोजन-शक्ति, सुरति-शक्ति, सुन्दरि तिया।
विभव, दान की शक्ति, थोरे तप को फल नहीं ॥ २ ॥

भोजन के पदार्थ और भोजन की शक्ति, सुन्दर स्त्री और रति की शक्ति, ऐश्वर्य और दानशक्ति, इनका होना थोड़े तप का फल नही है ॥ २ ॥

यस्य पुत्रो वशीभूतो भार्या छन्दानुगामिनी।
विभवे यश्च सन्तुष्टस्तस्य स्वर्ग इहैव हि ॥ ३ ॥

दो० रहै पुत्र वश में, तिया चलै हृदय अनुसार।
रहै तुष्ट जो विभव में, यहै स्वर्ग को सार ॥ ३ ॥

जिसका पुत्र वश में रहता है, स्त्री इच्छा के अनुसार चलती है, जो अल्प विभव में सन्तुष्ट रहता है, उसके लिए स्वर्ग यहीं है ॥३॥

ते पुत्रा ये पितुर्भक्ताः स पिता यस्तु पोषकः।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः सा भार्या यत्र निर्वृतिः ॥४ ॥

सो० पितृभक्त सुत सोय, सोइ पितु जो पालन करै।
मित्र बिसासी होय, सोइ तिय जासों सुख मिलै ॥ ४ ॥

वही पुत्र है जो पिता का भक्त है, वही पिता है जो पालन करता है, वही मित्र है जिस पर विश्वास है, वही स्त्री है जिससे सुख प्राप्त हो ॥ ४ ॥

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम् ॥ ५ ॥

दो० काम बिगारै आड़ में, सनमुख कह प्रिय बात।
पयमुख विषघट तुल्य अस मित्र तजहु तुम तात ॥ ५ ॥

आँख के ओट होने पर काम बिगाड़े, सम्मुख होने पर मीठी-मीठी बातें बनाकर कहे, ऐसे मित्र को ऊपर दूध से और भीतर विष से भरे हुए घड़े के समान छोड़ देना चाहिए ॥ ५ ॥

न विश्वसेत्कुमित्रे च मित्रे चापि न विश्वसेत्।
कदाचित्कुपितं मित्रं सर्वं गुह्यं प्रकाशयेत् ॥ ६ ॥

दो० मित्र, कुमित्र, दुहूँन को करिए जनि विश्वास।
मित्रहु कुपित भये करै सब रहस्य परकास ॥ ६ ॥

कुमित्र पर विश्वास तो किसी प्रकार से नहीं करना चाहिए और सुमित्र पर भी विश्वास न रक्खे, कदाचित् मित्र रुष्ट हो जायगा, तो सब गुप्त बातों को प्रकट कर देगा ॥ ६ ॥

मनसा चिन्तितं कार्यं वाचा नैव प्रकाशयेत्।
मन्त्रेण रक्षयेद्गूढं कार्ये चापि नियोजयेत् ॥ ७ ॥

दो० मन सों सोचे काम को जनि करु बचन प्रचारु।
मंत्रणाहिं सो गुप्त रखि अपनो काज सँवारु ॥ ७ ॥

मन से सोचे हुए काम को वचन से प्रकट न करे; किन्तु मंत्रणा से उसकी रक्षा करे और गुप्त ही उस कार्य को काम में भी लावे ॥ ७ ॥

कष्टं च खलु मूर्खत्वं कष्टं च खलु यौवनम्।
कष्टात्कष्टतरं चैव परगेहनिवासनम् ॥ ८ ॥

दो० कष्ट बड़ोई मूर्खता, निश्चय ज्वानी कष्ट।
परघर रहिबो किन्तु है महाकष्ट यह स्पष्ट ॥ ८ ॥

मूर्खता दुःख देती है और युवावस्था भी कष्ट में फँसा देती है; परन्तु दूसरे के गृह का वास तो बहुत ही दुःखदायक होता है ॥ ८ ॥

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने ॥ ९ ॥

दो० होत न मणि सब गिरिन, नहिं मोती सब गज माहिं।
रहत साधु सर्वत्र नहिं, सब बन चन्दन नाहिं ॥ ९ ॥

सब पर्वतों पर माणिक्य नहीं होता, सब हाथियों के मस्तक में मोती

नहीं उत्पन्न होते, साधु लोग सब स्थानों में नहीं मिलते और सब वनों में चन्दन नहीं होता ॥ ९ ॥

पुत्राश्च विविधैः शीलैर्नियोज्याः सततं बुधैः ।
नीतिज्ञाः शीलसम्पन्ना भवन्ति कुलपूजिताः ॥१०॥

सो० पुत्रन कहँ बुधलोग लावैं बहुविधि शील महँ ।
कुल में पूजन जोग शीलवान, नययुक्त नर ॥ १० ॥

बुद्धिमान् लोग लड़कों को नाना भाँति की सुशीलता में लगावें; क्योंकि नीति जाननेवाले यदि शीलवान् हों, तो कुल में पूजित होते हैं ॥ १० ॥

माता शत्रुः पिता वैरी याभ्यां बाला न पाठिताः ।
सभामध्ये न शोभन्ते हंसमध्ये बको यथा ॥११॥

दो० मात-पिता रिपु हैं, न जो सुतहिं पढ़ावैं नीच ।
सभा बीच सोहैं न वे ज्यों बक हंसन बीच ॥ ११ ॥

वह माता शत्रु और पिता वैरी है, जिसने अपने बालकों को नहीं पढ़ाया; क्योंकि सभा में वे पुत्र वैसे ही नहीं सोहते, जैसे हंसों के बीच बगला ॥ ११ ॥

लालनाद्बहवो दोषास्ताडनाद्बहवो गुणाः ।
तस्मात्पुत्रं च शिष्यं च ताडयेन्न तु लालयेत् ॥१२॥

सो० लाड़ किये अतिदोष, ताड़न ते बहु होत गुण ।
शिष्यहिं, सुतहिं सरोष, दण्ड देइ, न दुलारई ॥ १२ ॥

दुलार करने से बहुत दोष होते हैं और दण्ड देने से बहुत गुण। इसलिए पुत्र और शिष्य को दण्ड देना ही उचित है ॥ १२ ॥

श्लोकेन वा तदर्द्धेन तदर्द्धार्द्धाक्षरेण वा।
अबन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मभिः ॥ १३ ॥

दो० आधो, चौथाई, चरन आधो करु नित पाठ।
दान पठन सों दिन सफल करौ तीन सौ साठ ॥ १३ ॥

एक श्लोक, आधा श्लोक अथवा चौथाई श्लोक प्रतिदिन पढ़ना उचित है; क्योंकि दान, अध्ययन आदि कर्मों से दिन सार्थक करना चाहिए, व्यर्थ न जाने देना चाहिए ॥ १३ ॥

कान्तावियोगः स्वजनापमानो
रणस्य शेषः कुनृपस्य सेवा।
दरिद्रभावो विषमा सभा च
विनाग्निनैते प्रदहन्ति कायम् ॥ १४ ॥

सो० तिय-वियोग, रन शेष, स्वजन निरादर अति विषम।
दुखदायक सविशेष, सेवा कुत्सित भूप की ॥
त्यों दरिद्रता, हीन, अविवेकिन की सुठि सभा।
करहिं देह को छीन, बिना आगि जारैं तनहिं ॥ १४ ॥

स्त्री का विरह, अपने जनों से अनादर, युद्ध करके बचा हुआ शत्रु, कुत्सित राजा की सेवा, दरिद्रता और अविवेकियों की सभा, ये विना आग ही शरीर को जलाते हैं ॥ १४ ॥

नदीतीरे च ये वृक्षाः परगेहेषु कामिनी।
मन्त्रिहीनाश्च राजानः शीघ्रं नश्यन्त्यसंशयम् ॥ १५ ॥

दो० जानहारि परघर तिया, वृक्ष नदी के कूल।
बिनु मंत्री को नृपति, ये बिनसत बेगि समूल ॥ १५ ॥

नदी-तट के वृक्ष, दूसरे के घर में जाने या रहनेवाली स्त्री और मन्त्री से रहित राजा, निश्चय ही ये शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ १५ ॥

बलं विद्या च विप्राणां राज्ञां सैन्यं बलं तथा ।
बलं वित्तं च वैश्यानां शूद्राणां पारिचर्यकम् ॥१६॥

दो० बिद्या बल द्विज को कह्यो, सेना बल नरपाल ।
धन बल वैश्य, सु शूद्र को सेवाबल सब काल ॥ १६ ॥

ब्राह्मणों का बल विद्या, राजा का बल सेना, वैश्यों का बल धन और शूद्रों का बल सेवा है ॥ १६ ॥

निर्धनं पुरुषं वेश्या प्रजा भग्नं नृपं त्यजेत् ।
खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चाभ्यागतो गृहम् ॥१७॥

दो० वेश्या निरधन नर, प्रजा भग्न नृपहिं तजि देत ।
खग बिनु फल तरु पाइकै, अभ्यागतहु निकेत । १७ ॥

वेश्या निर्धन पुरुष को, प्रजा शक्तिहीन राजा को, पक्षी फलरहित वृक्ष को और अभ्यागत भोजन करके घर को छोड़ देते हैं ॥ १७॥

गृहीत्वा दक्षिणां विप्रास्त्यजन्ति यजमानकम् ।
प्राप्तविद्या गुरुं शिष्या दग्ध रण्यं मृगास्तथा ॥१८॥

दो० विप्र दच्छिणा लै करैं यजमानन को त्याग ।
जरे बनहिं मृग, शिष्य पढ़ि बिद्या गुरु सों भाग ॥ १८ ॥

ब्राह्मण दक्षिणा लेकर यजमान को त्याग देते हैं, शिष्य विद्या प्राप्त हो जाने पर गुरु को और जले हुए वन को मृग छोड़ देते हैं ।१८॥

दुराचारी दुरादृष्टिर्दुरावासी च दुर्जनः ।
यन्मैत्री क्रियते पुम्भिर्नरः शीघ्रं विनश्यति ॥ १९ ॥

दो० दुराचार, दुर्दृष्टि पुनि दुर्जन जो नर आहिं।
कुथल-निवासी, मित्र करि इन कहँ मनुज नसाहिं॥ १६॥

दुराचारी, कुदृष्टि रखनेवाला और बुरे स्थान में बसनेवाला, ऐसे दुर्जन पुरुष की मैत्री जिसके साथ होती है, वह नर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है॥ १६॥

समाने शोभते प्रीतिः राज्ञि सेवा च शोभते।
वाणिज्यं व्यवहारेषु दिव्या स्त्री शोभते गृहे॥ २०॥

दो० सोहै सेवा नृपति की, सोहै सम सों प्रीति।
घर सुन्दरि, व्यवहार महँ बनियाई की नीति॥ २०॥

समान जन में प्रीति सोहती है, सेवा राजा की सोहती है, व्यवहारों में बनियई और घर में दिव्य स्त्री सोहती है॥ २०॥

तीसरा अध्याय

कस्य दोषः कुले नास्ति व्याधिना के न पीडिताः।
व्यसनं केन न प्राप्तं कस्य सौख्यं निरन्तरम्॥ १॥

सो० दोष न किहि कुल माहिं, व्याधि न किहि पीड़ित कियो?
दुःख मिल्यो नहिं काहि, सुख काको संतत रह्यो?॥ १॥

किसके कुल में दोष नहीं है? व्याधि ने किसे पीड़ित नहीं किया? किसको कष्ट नहीं मिला? किसको सदा सुख ही रहता है?॥ १॥

आचारः कुलमाख्याति देशमाख्याति भाषणम्।
सम्भ्रमः स्नेहमाख्याति वपुराख्याति भोजनम्॥२॥

सो० कुलहिं कहत आचार, तैसे भाषण देश को।
आदर स्नेह-प्रसार, तन भोजनहि जनावई॥ २॥

आचार कुल को बतलाता है, बोली देश को बतलाती है, आदर स्नेह-प्रीति को प्रकट करता और शरीर भोजन को बताता है ॥ २ ॥

सुकुले योजयेत्कन्यां पुत्रं विद्यासु योजयेत् ।
व्यसने योजयेच्छत्रुं मित्रं धर्मे नियोजयेत् ॥ ३ ॥

दो० सुता सुकुल मैं ब्याहिए, सुत करिए विद्वान ।
शत्रुहिं दुख दै, मित्र कहँ धर्म-सीख को दान ॥ ३ ॥

कन्या श्रेष्ठ कुलवाले को देनी चाहिए, पुत्र को विद्या में लगाना चाहिए, शत्रु को दुःख पहुँचाना चाहिए और मित्र को धर्म का उपदेश करना चाहिए ॥ ३ ॥

दुर्जनस्य च सर्पस्य वरं सर्पो न दुर्जनः ।
सर्पो दंशति काले तु दुर्जनस्तु पदे पदे ॥ ४ ॥

सो० दुर्जन पन्नग बीच, साँप भलो दुर्जन नहीं ।
सर्प काल-बस मीच, पग-पग काटत दुष्टजन ॥ ४ ॥

दुर्जन और साँप में साँप अच्छा है, दुर्जन नहीं। कारण, साँप काल आने पर काटता है, पर खल तो पद-पद पर दुःखदायी होते हैं ॥ ४ ॥

एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम् ।
आदिमध्यावसानेषु न त्यजन्ति च ते नृपम् ॥ ५ ॥

सो० नृपति लोग यह जान, संग्रह करत कुलीन को ।
आदि मध्य अवसान, कबहुँ तजत वे संग नहिं ॥ ५ ॥

राजा लोग कुलीनों का संग्रह इसलिए करते हैं, अर्थात् उन्हें इसलिए अपने पास रखते हैं कि वे आदि अर्थात् उन्नति, मध्य और अन्त अर्थात् विपत्ति में राजा को नहीं छोड़ते ॥ ५ ॥

प्रलये भिन्नमर्यादा भवन्ति किल सागराः ।

सागरा भेदमिच्छन्ति प्रलयेऽपि न साधवः ॥ ६ ॥

सो० प्रलय माँह निज सींव त्यागि भेद सागर चहहिं।
तजत न सन्त अतीव प्रलयहु महँ मरजाद निज ॥ ६ ॥

समुद्र प्रलय के समय में अपनी मर्यादा को छोड़ देता है, और सागर भेद की इच्छा भी रखते हैं, अर्थात् किनारों को छोड़ देते हैं; परन्तु साधु लोग प्रलय होने पर भी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ते ॥ ६ ॥

मूर्खस्तु परिहर्त्तव्यः प्रत्यक्षो द्विपदः पशुः ।
भिद्यते वाक्यशल्येन अदृशं कण्टकं यथा ॥ ७ ॥

दो० मूरख तजौ, प्रतच्छ पशु द्विपद, वचन के बान—
बेधत, कंटक अध को ज्यों दुख देत महान ॥ ७ ॥

मूर्ख से दूर रहना उचित है। कारण, देखने में वह मनुष्य है, परन्तु यथार्थ में दो पैर का पशु है और वाक्यरूप काँटे से वैसे ही बेधता है जैसे अन्धे को काँटा ॥ ७ ॥

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥८॥

दो० रूप, जवानी, कुल सहित भये न जो विद्वान।
बिना गंध किंशुक-कुसुम सम सोहैं न अजान ॥ ८ ॥

रूप, जवानी और बड़े कुल में जन्म, इनके रहते भी विद्याहीन पुरुष विना गंधवाले टेसू के फूल के समान नहीं सोहते ॥ ८ ॥

कोकिलानां स्वरो रूपं स्त्रीणां रूपं पतिव्रतम् ।
विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम् ॥ ६ ॥

दो० कोयल को स्वर, नारि को सदा पतिव्रत रूप।
विद्या रूप कुरूप को छमा मुनिन अनुरूप ॥ ६ ॥

कोयलों की शोभा स्वर है, स्त्रियों की शोभा पतिव्रत है, कुरूपों की शोभा विद्या है, तपस्वियों की शोभा क्षमा है ॥ ९ ॥

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १० ॥

सो० एक त्यागु कुल काम, ग्राम हेतु कुल त्यागिये ।
देश हेत इक ग्राम, पृथिवी अपने हित तजहु ॥ १० ॥

कुल के भले के लिए एक को छोड़ देना चाहिए, ग्राम के लिए कुल का त्याग करना उचित है । देश के लिए ग्राम का और अपने लिए समस्त पृथ्वी का त्याग उचित है ॥ १० ॥

उद्योगे नास्ति दारिद्र्यं जपतो नास्ति पातकम् ।
मौनेन कलहो नास्ति नास्ति जागरिते भयम् ॥ ११ ॥

दो० दारिद कहँ उद्योग, त्यों जप मेटत है पाप ।
जागे से भय, चुप रहे कलह मिटत है आप ॥ ११ ॥

उपाय करने पर दरिद्रता नहीं रहती, जपनेवाले का पाप नहीं रहता, मौन होने से कलह नहीं होता और जागनेवाले के निकट भय नहीं आता ॥ ११ ॥

अतिरूपेण वै सीता अतिगर्वेण रावणः ।
अतिदानाद्बलिर्बद्धो ह्यति सर्वत्र वर्जयेत् ॥ १२ ॥

दो० अतिमानी रावण मिट्यो, बँध्यो सु बलि अति दान ।
दुख पायो सिय रूप अति, अति सब तजौ सुजान ॥ १२ ॥

अति सुन्दरता के कारण सीता हरी गई, अति गर्व से रावण मारा गया, अति दान देकर बलि को बँधना पड़ा । इसलिए अति सब जगह छोड़ देनी चाहिए ॥ १२ ॥

को हि भारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सुविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥१३॥

दो० व्यवसायिहि कछु दूर नहिं, भार न समरथ काहिं।
बुधहि विदेश कहूँ न, पर प्रियवादिन को नाहिं ॥ १३ ॥

समर्थ को कौन काम कठिन है? रोजगारी के लिए कौन जगह दूर है? सुन्दर विद्यावालों को कौन विदेश है? प्रियवादियों के लिए कौन वैरी है? ॥ १३ ॥

एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा ॥ १४ ॥

दो० फूलो और सुगन्धजुत एकहु तरु वन माहिं।
करत सुवासित वन सकल ज्यों सपूत कुल काहिं ॥ १४ ॥

एक भी अच्छे वृक्ष से, जिसमें सुन्दर फूल और सुगंध है, सब वन सुवासित हो जाता है, जैसे सुपुत्र से कुल ॥ १४ ॥

एकेन शुष्कवृक्षेण दह्यमानेन वह्निना।
दह्यते तद्वनं सर्वं कुपुत्रेण कुलं यथा ॥ १५ ॥

दो० जरत एक तरु शुष्क सब जंगल देत जराय।
ज्यों कुपुत्र करतूत सों सब कुल देत नसाय ॥ १५ ॥

आग से जलते हुए एक ही सूखे वृक्ष से सब वन जल जाता है, जैसे कुपुत्र से कुल ॥ १५ ॥

एकेनापि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन साधुना।
आह्लादितं कुलं सर्वं यथा चन्द्रेण शर्वरी ॥ १६ ॥

दो० सब कुल करै प्रकाश इक विद्यायुक्त सपूत।
पूर्ण चन्द्र ज्यों रैनि कहँ करत प्रकाशित पूत ॥ १६ ॥

विद्यायुक्त एक भले पुत्र से सब कुल ऐसा उज्ज्वल हो जाता है; जैसे चन्द्रमा से रात्रि ॥ १६ ॥

किं जातैर्बहुभिः पुत्रैः शोकसन्तापकारकैः ।
वरमेकः कुलालम्बी यत्र विश्राम्यते कुलम् ॥ १७ ॥

दो० देत सोक, संताप सुत बहुत भये फल काह ?
पुत्र एक सु सराहिए, जासों कुल को लाह ॥ १७ ॥

शोक-सन्ताप उत्पन्न करनेवाले बहुत पुत्रों से क्या लाभ ? कुल को सहारा देनेवाला एक ही पुत्र श्रेष्ठ है, जो कुल का आधार होता है ॥ १७ ॥

लालयेत्पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत् ।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत् ॥ १८ ॥

दो० पाँच बरस लौं लाड़ करि, ताड़न दस लौं देहु ।
पहुँचे सोरह साल सुत, मित्र तुल्य गनि लेहु ॥ १८ ॥

पुत्र का पाँच वर्ष तक दुलार, और फिर दस वर्ष तक ताड़न करे । सोलहवें वर्ष के लगते ही पुत्र के साथ मित्र का सा व्यवहार करे ॥ १८ ॥

उपसर्गेऽन्यचक्रे च दुर्भिक्षे च भयावहे ।
असाधुजनसंपर्के पलायति स जीवति ॥ १९ ॥

दो० दुष्ट संग, दुर्भिक्ष मैं, शत्रु-आक्रमण-काल ।
और उपद्रव मैं भगे, जीवन होत विशाल ॥ १९ ॥

उपद्रव उठने पर, शत्रु के आक्रमण करने पर, भयानक अकाल पड़ने पर और खल जनों का संग होने पर जो भागता है, वही जीता है ॥ १९ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
जन्मजन्मनि मर्त्येषु मरणं तस्य केवलम्॥ २० ॥

दो० काम, मोक्ष, धर्मार्थ मैं, संचित एक न सार।
जन्म-जन्म केवल मरण, ताको लाभ विचार॥ २० ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इनमें से जिसने कोई न प्राप्त किया, उसको मृत्युलोक में वारंवार जन्म लेकर केवल मरण ही लाभ होता है॥ २० ॥

मूर्खा यत्र न पूज्यन्ते धान्यं यत्र सुसञ्चितम्।
दाम्पत्ये कलहो नास्ति तत्र श्रीः स्वयमागता॥ २१ ॥

दो० मूर्ख न पूजे जात जहँ, संचित रहै सु अन्न।
दंपति-कलह न होत, तहँ संपति है संपन्न॥ २१ ॥

जहाँ मूर्ख नहीं पूजे जाते, जहाँ अन्न संचित रहता है और जहाँ स्त्री-पुरुष में लड़ाई नहीं होती, वहाँ लक्ष्मी आप ही आकर रहती है॥ २१ ॥

चौथा अध्याय

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥ १ ॥

दो० आयु, कर्म, विद्या, निधन, धन ये बातैं पाँच।
गर्भहि मैं लिखि जात हैं, जीवन के, यह साँच॥ १ ॥

यह निश्चय है कि आयु, कर्म, धन, विद्या और मरण, ये पाँच बातें, जब जीव गर्भ में रहता है, तभी लिख दी जाती हैं॥ १ ॥

साधुभ्यस्ते निवर्तन्ते पुत्रमित्राणि बान्धवाः ।
ये च तैः सह गन्तारस्तद्धर्मात्सुकृतं कुलम् ॥ २ ॥

दो० पुत्र, मित्र, बान्धव छुटैं, साधुन के उपदेस ।
साधु-अनुसरण-धर्म ते, कुल तरि जात हमेस ॥ २ ॥

पुत्र, मित्र और बन्धु ये साधुजनों से निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् इनकी ममता छूट जाती है और जो उन साधुओं का अनुसरण करते हैं, उनके पुण्य से संपूर्ण कुल कृतकृत्य हो जाता है ॥ २ ॥

दर्शनध्यानसंस्पर्शैर्मत्सी कूर्मी च पक्षिणी ।
शिशुं पालयते नित्यं तथा सज्जनसंगतिः ॥ ३ ॥

दो० मच्छी, पच्छी, कच्छपी, दरस, परस अरु ध्यान—
करि निज बालक पालहीं, त्यों सतसंग सुजान ॥ ३ ॥

मछली, कछुई और चिड़िया, ये जैसे दर्शन, ध्यान और स्पर्श से बच्चों को सर्वदा पालती हैं, वैसे ही सज्जनों की संगति भी सत्संग करनेवालों को पालती अर्थात् उनका भला करती है ॥ ३ ॥

यावत्स्वस्थो ह्ययं देहो यावन्मृत्युश्च दूरतः ।
तावदात्महितं कुर्यात् प्राणान्ते किं करिष्यति ॥ ४ ॥

दो० मृत्यु दूरि, तन स्वस्थ है, जब लौं होत निबाह—
तब लौं हित करि लेहु पुनि, मरे करौगे काह ? ॥ ४ ॥

जब तक देह नीरोग है और मृत्यु दूर है, तब तक अपना हित और पुण्य आदि करना उचित है । प्राणान्त हो जाने पर फिर कोई क्या करेगा ? ॥ ४ ॥

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी ।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम् ॥ ५ ॥

दो० कामधेनु-सी देत फल, विद्या असमय माँहि ।
जननी तुल्य विदेश में, कह्यो गुप्त धन वाहि ॥ ५ ॥

विद्या में कामधेनु के समान गुण है ; क्योंकि वह असमय में भी फल देती है । वह विदेश में माता के समान रक्षा करती है, इसलिए विद्या को गुप्त धन समझना चाहिए ॥ ५ ॥

एकोऽपि गुणवान् पुत्रो निर्गुणैश्च शतैर्वरः ।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च ताराः सहस्रशः ॥ ६ ॥

दो० निरगुन सौ सुत सों भलो, गुनी पुत्र जो एक ।
एक चंद्र नासै तिमिर, तारा नहीं अनेक ॥ ६ ॥

सैकड़ों गुणहीन पुत्रों से एक भी गुणी पुत्र श्रेष्ठ है । एक ही चन्द्र अन्धकार का नाश करता है, सहस्रों नक्षत्र नहीं ॥ ६ ॥

मूर्खश्चिरायुर्जातोऽपि तस्माज्जातमृतो वरः ।
मृतः स चाल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत् ॥ ७ ॥

दो० चिरजीवी मूरख न भल, जनमत मरै सु नीक ।
मरे अलप दुख, जड़ सदा देह दहत यह ठीक ॥ ७ ॥

मूर्ख पुत्र चिरञ्जीवी भी हो, तो उससे उत्पन्न होते ही मर जाने-वाला श्रेष्ठ है ; क्योंकि मरा हुआ थोड़े ही दुःख का कारण होता है ; पर मूर्ख जब तक जीता है, तब तक जलाता है ॥ ७ ॥

कुग्रामवासः कुलहीनसेवा
कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या ।

पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या
विनाग्निना षट् प्रदहन्ति कायम् ॥ ८ ॥

छं० बुरे गाँव को बास, नीच की करिबो सेवा।
भोजन दूषित, नारि क्रोधबस जो दुखदेवा ॥
मूरख अपनो पुत्र, सुता विधवा, नहिं भावैं।
बिना आगि ये छहो, देह कहँ सदा जरावैं ॥ ८ ॥

कुग्राम में वास, नीच कुल की सेवा, कुभोजन, कलहकारिणी स्त्री, मूर्ख पुत्र, विधवा कन्या, ये छः विना आग के ही शरीर को जलाते हैं ॥ ८ ॥

किं तया क्रियते धेन्वा या न दोग्ध्री न गर्भिणी।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न भक्तिमान् ॥९॥

दो० गाभिन होय न दूध दे, कौन काम की गाय।
विद्या-भक्ति-विहीन सुत, व्यर्थहि जनम्यो आय ॥ ९ ॥

उस गाय से क्या लाभ, जो न दूध दे, न गाभिन हो ? ऐसे ही उस पुत्र से क्या लाभ, जो न विद्वान् हो, न माता-पिता का भक्त ? ॥ ९ ॥

संसारतापदग्धानां त्रयो विश्रान्तिहेतवः।
अपत्यं च कलत्रं च सतां संगतिरेव च ॥ १० ॥

दो० जरे जु जग के ताप महँ, तिन्हैं शान्ति दें तीन।
नारी, सुत, सतसंग पुनि, बरनत यहै प्रबीन ॥ १० ॥

संसार के ताप से जलते हुए पुरुषों के लिए विश्राम (शान्ति) के हेतु तीन हैं—लड़का, स्त्री और सज्जनों की संगति ॥ १० ॥

सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः।
सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ॥ ११ ॥

दो० नरपति-आज्ञा, बुध-वचन, कन्याहू को दान।
होत एक ही बार ये, तीनों बातैं जान ॥ ११ ॥

राजा लोग एक ही बार आज्ञा देते हैं, पंडित लोग एक ही बार बोलते हैं, कन्या एक ही बार दी जाती है ; ये तीनों बातें एक ही बार होती हैं ॥ ११ ॥

एकाकिना तपो द्वाभ्यां पठनं गायनं त्रिभिः।
चतुर्भिर्गमनं क्षेत्रं पञ्चभिर्बहुभी रणम् ॥ १२ ॥

दो० इकले तप, द्वै अध्ययन, तीन गीत, मग चार।
पाँच कृषी, बहु मिलि समर, करिये नीति-विचार ॥ १२ ॥

अकेले तप, दो से पढ़ना, तीन से गाना, चार से राह चलना, पाँच से खेती और बहुतों से युद्ध भली भाँति बनता है ॥ १२ ॥

सा भार्या या शुचिर्दक्षा सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्रीता सा भार्या सत्यवादिनी ॥ १३ ॥

दो० मीठे साँचे कह वचन, चतुर होय, शुचि होय।
पति कहँ प्यारी पतिव्रता, पत्नी कहिये सोय ॥ १३ ॥

वही भार्या है जो पवित्र और चतुर है, वही भार्या है जो पतिव्रता है, वही भार्या है जिस पर पति की प्रीति है, वही भार्या है जो सत्य बोलती है। अर्थात् वही दान, मान, पोषण और पालन के योग्य है ॥ १३ ॥

अपुत्रस्य गृहं शून्यं दिशः शून्यास्त्वबान्धवाः ।
मूर्खस्य हृदयं शून्यं सर्वशून्या दरिद्रता ॥ १४ ॥

दो० सूनो घर बिन सुत, दिशा सूनी बान्धव-हीन ।
मूर्ख हृदय सूनो, सबै सूनो दारिद दीन ॥ १४ ॥

निपूते का घर सूना है, बन्धुरहित के लिए सब दिशाएँ शून्य हैं, मूर्ख का हृदय शून्य है और दरिद्र को सभी सूना है ॥ १४ ॥

अनभ्यासे विषं शास्त्रमजीर्णे भोजनं विषम् ।
दरिद्रस्य विषं गोष्ठी वृद्धस्य तरुणी विषम् ॥ १५ ॥

दो० शास्त्र बिना अभ्यास के, अपच माहिं आहार ।
सभा दरिद्रहि, वृद्ध कहँ तरुनी, विष ये चार ॥ १५ ॥

विना अभ्यास के शास्त्र विष है, विना पचे भोजन विष है, दरिद्रों के लिए बैठक और वृद्ध के लिए युवती स्त्री विष है ॥ १५ ॥

त्यजेद्धर्मं दयाहीनं विद्याहीनं गुरुं त्यजेत ।
त्यजेत्क्रोधमुखीं भार्यां निःस्नेहान्बान्धवांस्त्यजेत् १६॥

दो० दया-हीन धरमहि तजौ, गुरुहू विद्या-हीन ।
क्रोधी तिय, बान्धव तजौ नेहरहित, परबीन ! ॥ १६ ॥

दया-रहित धर्म को छोड़ देना चाहिए। विद्याहीन गुरु को त्यागना उचित है। सदा कुपित रहनेवाली भार्या को अलग कर देना चाहिए और विना प्रीति के बान्धवों को त्याग देना उचित है ॥ १६ ॥

अध्वा जरा मनुष्याणां वाजिनां बन्धनं जरा ।
अमैथुनं जरा स्त्रीणां वस्त्राणामातपो जरा ॥ १७ ॥

दो० चलिबो नर को, अश्व को बँधिबो, वस्त्रन धूप।
कह्यो बुढ़ापा नारि को, सुरति-त्याग दुखरूप ॥ १७ ॥

मनुष्यों के लिए राह चलना बुढ़ापा है, घोड़े के लिए बाँध रखना बुढ़ापा है, स्त्रियों के लिए रति का न करना बुढ़ापा है तथा वस्त्रों के लिए घाम बुढ़ापा है अर्थात् उन्हें जीर्ण करनेवाला है ॥ १७ ॥

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥१८॥

दो० काल, मित्र, व्यय, आय पुनि देश और निज शक्ति।
अपनी स्थितिहि बिचारिये, बार-बार सब व्यक्ति ॥ १८ ॥

कैसा या कौन काल है, मेरे मित्र कौन हैं, कौन या कैसा देश है, मेरी आमदनी और खर्च क्या है, मैं कौन हूँ और मेरी शक्ति कितनी है, यह मनुष्य को बार-बार अर्थात् सदा विचारना चाहिए ॥ १८ ॥

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र समदर्शिनाम् ॥ १९ ॥

दो० द्विजन अग्नि-महँ देव हैं, मुनिन हृदय महँ और—
प्रतिमा मैं मतिमन्द कहँ, समदरसिन सब ठौर ॥ १९ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इनका देवता अग्नि है। मुनियों के हृदय में देवता रहते हैं। अल्पबुद्धियों के लिए मूर्ति में और समदर्शियों के लिए सब स्थानों में देवता रहते हैं ॥ १९ ॥

पाँचवाँ अध्याय

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥ १ ॥

दो० नारिन को पति, चारिहू वर्ण विप्र गुरु जान ।
पावक द्विज को, सबन को अभ्यागत गुरु मान ॥ १ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का गुरु अग्नि है। चारों वर्णों का गुरु ब्राह्मण है। स्त्रियों का गुरु पति है; और सबका गुरु अभ्यागत है॥१॥

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ॥२॥

दो० काटि पीटि, घिसि, ताप सों, कनक परखिये चार ।
त्याग, शील, गुन, कर्म सों, तैसे मनुज विचार ॥ २ ॥

घिसकर, काटकर, तपाकर और पीटकर, इन चार प्रकारों से जैसे सोने की परीक्षा की जाती है, वैसे ही दान, शील, गुण और आचार, इन चारों प्रकारों से पुरुष की परीक्षा होती है ॥ २ ॥

तावद्भयेषु भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं वीक्ष्य प्रहर्तव्यमशङ्कया ॥३॥

दो० भय आयो जब लौं नहीं, तब लौं डरिये यार ।
भय आये पै ह्वै निडर, करु प्रतिकार, प्रहार ॥ ३ ॥

तब तक भय से डरना चाहिए, जब तक भय न आया हो। जब भय को आया हुआ देख ले, तब उस पर प्रहार करना उचित है ॥३॥

एकोदरसमुद्भूता एकनक्षत्रजातकाः।
न भवन्ति समाः शीले यथा बदरिकण्टकाः ॥४॥

दो० एक उदर, नक्षत्र मैं, उपजेहू न समान—
शील होत, हैं बेर के फल, कंटक उपमान ॥ ४ ॥

एक ही गर्भ से एवं एक ही नक्षत्र में उत्पन्न नर शील में समान नहीं होते, जैसे बेर के फल और उसके काँटे सब बराबर नहीं होते ॥ ४ ॥

निःस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामो मण्डनप्रियः।
नाविदग्धः प्रियं ब्रूयात् स्पष्टवक्ता न वञ्चकः ॥५॥

दो० अधिकारी निःस्पृह नहीं, शृंगारी न विरक्त।
प्रियवादी अनिपुन, छली, वक्ता होत न व्यक्त ॥ ५ ॥

अधिकारी निःस्पृह नहीं होते, अर्थात् अधिकार पाकर निःस्पृह होना कठिन है। शृंगार का प्रेमी कभी अकाम नहीं होता, अर्थात् वह अवश्य कामुक होता है। जो चतुर नहीं है, वह प्रियवादी नहीं हो सकता और स्पष्ट कहनेवाला कभी धोखेबाज नहीं होता ॥ ५ ॥

मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या अधनानां महाधनाः।
पराङ्गना कुलस्त्रीणां सुभगानां च दुर्भगाः ॥ ६ ॥

दो० मूरख बुध सों, धनिन सों निर्धन राखैं द्वेष।
राँड सुहागिन सों, सतिन व्यभिचारिनी विशेष ॥ ६ ॥

मूर्ख पंडितों से, दरिद्री धनियों से, व्यभिचारिणी कुलीन स्त्रियों से और विधवा सुहागवाली स्त्रियों से द्वेष रखती हैं ॥ ६ ॥

आलस्योपगता विद्या परहस्तगतं धनम् ।
अल्पबीजं हतं क्षेत्रं हतं सैन्यमनायकम् ॥ ७ ॥

दो० आलस सों बिद्या नसै, धन जु पराये हाथ ।
खेत बीज थोरे नसै, सेना नसै अनाथ ॥ ७ ॥

आलस्य से विद्या नष्ट हो जाती है, दूसरे के हाथ में जाने से धन निरर्थक हो जाता है, बीज की कमी से खेत नष्ट हो जाता है, और सेनापति के विना सेना मारी जाती है ॥ ७ ॥

अभ्यासाद्धार्यते विद्या कुलं शीलेन धार्यते ।
गुणेन ज्ञायते त्वार्यः कोपो नेत्रेण गम्यते ॥ ८ ॥

दो० बिद्या को अभ्यास, त्यों कुल को शील अधार ।
कोप आँखि सों, आर्यजन गुन सों जानो यार ॥ ८ ॥

अभ्यास से विद्या, सुशीलता से कुल, गुण से सज्जन व्यक्ति और नेत्र से कोप ज्ञात होता है ॥ ८ ॥

वित्तेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृदुना रक्ष्यते भूपः सत् स्त्रिया रक्ष्यते गृहम् ॥६॥

दो० बिद्या राखौ योग सों, धन सों राखौ धर्म ।
भली नारि सों घर, नृपति रक्षित मृदुता वर्म ॥ ६ ॥

धन से धर्म की रक्षा होती है । यम, नियम आदि योग से ज्ञान रक्षित होता है । मृदुता से राजा की रक्षा होती है, और भली स्त्री से घर की रक्षा होती है ॥ ९ ॥

अन्यथा वेदपाण्डित्यं शास्त्रमाचारमन्यथा ।
अन्यथावदतःशान्तं लोकाः क्लिश्यन्ति चान्यथा॥१०॥

दो० बेद, शास्त्र, आचार को, जो नर करैं अनर्थ ।
कहैं अन्यथा शान्त कहँ, कष्ट लहैं ते व्यर्थ ॥ १० ॥

वेद के पाण्डित्य को अन्यथा कहनेवाला, शास्त्र और उसके आचार के विषय में व्यर्थ विवाद करनेवाला और शान्त (साधु) पुरुष को अन्यथा (ढोंगी) कहनेवाला व्यर्थ ही क्लेश उठाता है, अर्थात् वह उक्त वस्तुओं और आदमियों का कुछ नहीं बिगाड़ सकता ॥ १० ॥

दारिद्र्यनाशनं दानं शीलं दुर्गतिनाशनम् ।
अज्ञाननाशिनी प्रज्ञा भावना भयनाशिनी ॥११॥

सो० मेटै दारिद दान, दुर्गतिनाशन शील है ।
प्रज्ञा सों अज्ञान, भय सुभावना सों नसै ॥ ११ ॥

दान दरिद्रता का नाश करता है, सुशीलता दुर्गति को दूर कर देती है, बुद्धि अज्ञान का नाश कर देती है और भक्ति भय को मिटाती है ॥ ११ ॥

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः ।
नास्ति कोपसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानात्परं सुखम् ॥१२॥

दो० काम तुल्य नहिं व्याधि है, शत्रु न मोह समान ।
कोप सरिस पावक नहीं, सुख न ज्ञान सम आन ॥ १२ ॥

काम के समान दूसरी व्याधि नहीं, अज्ञान के समान दूसरा वैरी नहीं, क्रोध के समान दूसरी आग नहीं एवं ज्ञान से बढ़कर सुख नहीं ॥ १२ ॥

जन्ममृत्यू हि यात्येको भुनक्त्येकः शुभाशुभम् ।
नरकेषु पतत्येक एको याति परां गतिम् ॥ १३ ॥

दो० इकलोई जनमै, मरै, करै शुभाशुभ भोग ।
नरक जाय त्यों मुक्ति को लहै सुखद संयोग ॥ १३ ॥

यह निश्चित है कि मनुष्य अकेला ही जन्म लेता और मरता है। अपने शुभ और अशुभ कर्मों का फल भी अकेला ही भोगता है। अकेला ही नरक में गिरता है और अकेला ही परम गति मोक्ष को पाता है ॥ १३ ॥

तृणं ब्रह्मविदः स्वर्गस्तृणं शूरस्य जीवितम् ।
जिताक्षस्य तृणं नारी निःस्पृहस्य तृणं जगत् ॥ १४ ॥

दो० ब्रह्मज्ञानिहि स्वर्ग तृन, शूरहि तृन से प्रान ।
नारि जितेन्द्रिय काहिं तृन, निःस्पृह को जग जान ॥ १४ ॥

ब्रह्मज्ञानी को स्वर्ग तृण समान है, शूर को जीवन तृणतुल्य है। जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, उसको स्त्री तृण के तुल्य जान पड़ती है और निःस्पृह को जगत् तृण-सा तुच्छ है ॥ १४ ॥

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च ।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च ॥ १५ ॥

दो० घर मैं नारि, बिदेस मैं बिद्या मित्र प्रमान ।
रोगी कहँ औषधि, मरे मित्र धर्म, नहिं आन ॥ १५ ॥

विदेश में विद्या मित्र होती है, गृह में भार्या मित्र है, रोगी का मित्र औषधि है, और मरे हुए का मित्र धर्म है ॥ १५ ॥

दो० जनक, गुरू, आचार्य, जिहि अन्न पोषिये देह।
भय सों रक्षक, पाँच हैं पितुसम निःसंदेह ॥ २२ ॥

जन्म देनेवाला, यज्ञोपवीत आदि संस्कार करानेवाला, विद्या देनेवाला, अन्न देनेवाला और भय से बचानेवाला; ये पाँच पिता गिने जाते हैं ॥ २२ ॥

राजपत्नी गुरोःपत्नी मित्रपत्नी तथैव च।
पत्नीमाता स्वमाता च पञ्चैता मातरः स्मृताः ॥२३॥

दो० मित्रतिया, गुरुतिय तथा राजा की जो नारि।
सास और माता इन्हैं, माता लेहु बिचारि ॥ २३ ॥

राजा की भार्या, गुरु की स्त्री, मित्र की पत्नी, सास और अपनी जननी, इन पाँचों को माता कहते हैं ॥ २३ ॥

छठा अध्याय

श्रुत्वा धर्मं विजानाति श्रुत्वा त्यजति दुर्मतिम्।
श्रुत्वा ज्ञानमवाप्नोति श्रुत्वा मोक्षमवाप्नुयात् ॥ १ ॥

दो० सुने मिलत है मुक्ति त्यों, होत सुने ते ज्ञान।
सुनि जानत है धर्म, सुनि दुर्मति तजै महान ॥ १ ॥

मनुष्य शास्त्र को सुनकर धर्म को जानता है, शास्त्र सुनकर दुर्बुद्धि को छोड़ता है, शास्त्र सुनकर ज्ञान पाता है तथा ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

पक्षिणां काकश्चाण्डालः पशूनां चैव कुक्कुरः।
मुनीनां पापश्चाण्डालः सर्वचाण्डालनिन्दकः ॥ २ ॥

दो० पच्छिन में बायस, पशुन स्वान, मुनिन में पाप।
निन्दक है चंडाल त्यों सबमैं जानो आप ॥ २ ॥

पक्षियों में कौआ, पशुओं में कुत्ता, मुनियों में पाप और पर-निन्दक सबमें चाण्डाल होता है ॥ २ ॥

भस्मना शुद्धयते कांस्यं ताम्रमम्लेन शुद्धयति।
रजसा शुध्यते नारी नदी वेगेन शुद्धयति ॥ ३ ॥

दो० काँस भसम सों, नारिहू रज सों, सुनौ सुबुद्धि।
ताम्र खटाई सों, नदी लहै वेग सों सुद्धि ॥ ३ ॥

काँसे का पात्र राख से, ताँबे का पात्र इमली या खटाई से, स्त्री रजस्वला होने पर और नदी धारा के वेग से शुद्ध हो जाती है ॥३॥

भ्रमन्संपूज्यते राजा भ्रमन्संपूज्यते द्विजः।
भ्रमन्संपूज्यते योगी स्त्री भ्रमन्ती विनश्यति ॥ ४ ॥

दो० भ्रमण किये पूजा लहैं ब्राह्मन, जोगी, भूप।
पै नारी बिगरै, यहै कहैं नीति अनुरूप ॥ ४ ॥

भ्रमण करनेवाला राजा आदर पाता है, घूमनेवाला ब्राह्मण पूजा जाता है, भ्रमण करनेवाला योगी पूजित होता है; परन्तु स्त्री घूमने से भ्रष्ट हो जाती है ॥ ४ ॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥५॥

दो० धन जाके ताके सबै, बान्धव-मित्र अनेक।
वह पंडित नर-रत्न है, वाके दोष न एक ॥ ५ ॥

जिसके पास धन रहता है उसके मित्र तथा जिसके पास संपत्ति रहती है उसके बान्धव बहुत होते हैं, जिसके पास धन रहता है वही पुरुष एवं पण्डित कहलाता है ॥ ५ ॥

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः ।
सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता ॥ ६ ॥

दो० उपजै मतिहू वैसिही, वैसोई उद्योग ।
होनी जैसी वैसई मिलत सहाय-सुजोग ॥ ६ ॥

जैसी होनहार होती है वैसी ही बुद्धि, उपाय और सहायक हो जाते हैं ॥ ६ ॥

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ७ ॥

दो० जीरन करि सबही प्रजा, करै काल संहार ।
सब सोवत, जागत सोई, कौन सकै तिहि टार ? ॥ ७ ॥

काल जीवों को जीर्ण एवं नष्ट करता है, और सबके सोने पर भी जागता रहता है । उसका उल्लंघन करनेवाला कोई नहीं है ॥७॥

न पश्यति च जन्मान्धः कामान्धो नैव पश्यति ।
मन्दोन्मत्ता न पश्यन्ति अर्थी दोषं न पश्यति ॥ ८ ॥

दो० सूर न देखै हित-अहित, काम-अंध नहिं पेख ।
सूझ मदान्धहि कछु नहीं, गरजी दोष न देख ॥ ८ ॥

नेत्र न होने के कारण जन्मान्ध, नेत्रों के होते हुए भी कामान्ध और मदोन्मत्त नहीं देखते, अर्थात् उनको कुछ नहीं सूझता । जिसका काम अटका होता है, वह ग़रजी किसी काम में दोष नहीं देखता ॥ ८ ॥

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥ ९ ॥

दो० जीव कर्म आपहि करै, और करै फल-भोग ।
आप भ्रमै संसार महँ, पावै मुक्ति सुजोग ॥ ९ ॥

जीव आप ही कर्म करता है और उसका फल भी आप ही भोगता है, आप ही संसार में भ्रमता है और आप ही उससे मुक्त भी होता है ॥ ९ ॥

राजा राष्ट्रकृतं पापं राज्ञः पापं पुरोहितः ।
भर्त्ता च स्त्रीकृतं पापं शिष्यपापं गुरुस्तथा ॥ १० ॥

दो० लहत राष्ट्रकृत पाप नृप, भर्ता तिय को पाप ।
पाप पुरोहित भूप को, शिष्य-पाप गुरु आप ॥ १० ॥

अपने राज्य में किये हुए पाप को राजा और राजा के पाप को पुरोहित भोगता है । जैसे स्त्रीकृत पाप को स्वामी भोगता है वैसे ही शिष्य के पाप को गुरु भोगता है ॥ १० ॥

ऋणकर्ता पिता शत्रुर्माता च व्यभिचारिणी ।
भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः ॥ ११ ॥

दो० पिता सत्रु ऋन जो करै, पुत्र मूर्ख रिपु जानु ।
व्यभिचारिनि माता, तिया सुंदरि अरि अनुमानु ॥ ११ ॥

ऋण करनेवाला पिता, व्यभिचारिणी माता, सुन्दरी स्त्री और मूर्ख पुत्र शत्रु है ॥ ११ ॥

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् स्तब्धमञ्जलिकर्मणा ।
मूर्खं छन्दोऽनुवृत्त्या च यथार्थत्वेन पण्डितम् ॥ १२ ॥

रो० छं० लोभी जन कहँ सदा द्रव्य ही सों बस कीजै।
अभिमानी कहँ हाथ जोरि निज बस करि लीजै॥
मूर्ख सदा अनुकूल रहे सों हिये पसीजै।
पंडित तब बस होत, सत्य जबही कहि दीजै॥ १२॥

लोभी को धन से, अहंकारी को हाथ जोड़ने से, मूर्ख को उसके अनुसार बर्तने से और पण्डित को सचाई से वश करना चाहिए॥ १२॥

वरं न राज्यं न कुराजराज्यं
वरं न मित्रं न कुमित्रमित्रम्।
वरं न शिष्यो न कुशिष्यशिष्यो
वरं न दारा न कुदारदारः॥ १३॥

रो० छं० भलो अराजक होत, भलो पै नहीं कुराजा।
बिना मित्र रहिए, कुमित्र पै कबहुँ न साजा॥
भले सिष्य बिन रहै, सिष्य पै निन्द्य न कीजै।
बिना नारि के भलो, कुनारी संग न लीजै॥ १३॥

राज्य न रहना अच्छा; परन्तु कुराजा का राज्य होना अच्छा नहीं। मित्र का न होना अच्छा; पर कुमित्र को मित्र बनाना अच्छा नहीं। शिष्य न हो यह अच्छा; पर निन्दित शिष्य शिष्य कहलावे, यह अच्छा नहीं। भार्या न रहे, यह अच्छा; पर कुभार्या का भार्या होना अच्छा नहीं॥ १३॥

कुराजराज्येन कुतः प्रजासुखं
कुमित्रमित्रेण कुतोऽभिनिर्वृतिः।

कुदारदारैश्च कुतो गृहे रतिः
कुशिष्यमध्यापयतः कुतो यशः ॥१४॥

रो० छं० कुत्सित नृप के राज प्रजा को सुख नहिं होवै।
जो कुमित्र कहुँ करै, सकल आनन्दहि खोवै॥
दुष्ट नारि के साथ चित्त घर मैं नहिं लागै।
त्यों कुसिष्य सों जस न होइ, यासों इन त्यागै॥ १४॥

दुष्ट राजा के राज्य में प्रजा को सुख कैसे हो सकता है? कुमित्र से आनन्द कैसे मिल सकता है? दुष्ट स्त्री से गृह में प्रीति कैसे होगी? और कुशिष्य को पढ़ानेवाले की कीर्ति कैसे होगी? ॥ १४ ॥

सिंहादेकं बकादेकं शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात्।
वायसात्पञ्च शिक्षेच्च षट् शुनस्त्रीणि गर्दभात् ॥१५॥

रो० छं० सिखहु सिंह सों एक, एक बक सों गुन भारी।
गर्दभ सों गुन तीन और कुक्कुट सों चारी॥
सिखौ काग सों पाँच, साँच यह नीति बिचारी।
सिखौ स्वान सों षटगुन बनि अधिकारी॥ १५॥

सिंह से एक, बगले से एक और कुक्कुट से चार बातें सीखनी चाहिए। कौए से पाँच, कुत्ते से छः और गधे से तीन गुण सीखना उचित है॥ १५॥

प्रभूतं कार्यमल्पं वा यन्नरः कर्तुमिच्छति।
सर्वारम्भेण तत्कार्यं सिंहादेकं प्रचक्षते॥ १६॥

दो० काज बहुत कै थोर ही, करिबो सो धरि टेक।
करिय पूर्न उद्योग सों, सिखौ सिंह सों एक॥ १६॥

कार्य छोटा हो या बड़ा, जो करना चाहे, उसको सब प्रकार के प्रयत्न से करना उचित है, इसे सिंह से एक गुण सीखना कहते हैं ॥ १६ ॥

इन्द्रियाणि च संयम्य बकवत्पण्डितो नरः।
देशकालबलं ज्ञात्वा सर्वकार्याणि साधयेत् ॥ १७ ॥

दो० इन्द्रिय-संजम करि चतुर, देस-काल-बल जानि।
सबै काज साधै सदा, बक को यह गुन मानि ॥ १७ ॥

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि इन्द्रियों का संयम करके देश, काल और बल को समझकर बगले के समान सब कार्यों को साधे ॥ १७ ॥

प्रत्युत्थानं च युद्धं च संविभागं च बन्धुषु।
स्वयमाक्रम्य भुक्तं च शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात् ॥ १८ ॥

रो० छं० उठिबो सदा प्रभात, दिखैबो पीठि न रन मैं।
जो पावै सो सदा बाँटिबो बन्धु स्वजन मैं ॥
पाँयन करि आक्रमन भोग करिबो, ये चारो—
कुक्कुट सों गुन सिखौ, सदा निज लाभ बिचारो ॥ १८ ॥

उचित समय में जागना, रण में उद्यत रहना, बन्धुओं को उनका भाग देना और आप आक्रमण करके भोजन करना, इन चार बातों को कुक्कुट (मुर्गे) से सीखना चाहिए ॥ १८ ॥

गूढमैथुनचारित्वं काले काले च संग्रहम्।
अप्रमत्तमविश्वासं पञ्च शिक्षेच्च वायसात् ॥ १९ ॥

दो० सदा गूढ़ रहिबो तथा, करिबो नहिं बिस्वास।
समय-समय संचय स्वयं, करिबो अपने पास ॥

साबधान, जोड़ी सहित, बायस सों ये पाँच।
सीखौ गुन, यह नीति को, मतो सुखद है साँच॥ १६ ॥

सदा सुरक्षित रहना, साथ जोड़ा रखना, समय-समय पर संग्रह करना, सावधान रहना और किसी पर विश्वास न करना, इन पाँचों को कौवे से सीखना उचित है॥ १९ ॥

बह्वाशी स्वल्पसन्तुष्टः सनिद्रो लघुचेतनः।
स्वामिभक्तश्च शूरश्च षडेते श्वानतो गुणाः॥२०॥

दो० भूख बहुत, पै थोर ही भोजन लहि सन्तोष।
सजग नींद को राखिबो, सूर-बीरता रोष॥
स्वामी की अतिभक्ति ये, षट गुन गिने महान।
सदा स्वान सों सीखिये, लहिये जग कल्यान॥ २० ॥

बहुत खाने की शक्ति रहते भी थोड़े ही से सन्तुष्ट होना, गाढ़ निद्रा रहते भी झटपट जागना, स्वामी की भक्ति और शूरता इन छः गुणों को कुत्ते से सीखना चाहिए॥ २० ॥

सुश्रान्तोऽपि वहेद्भारं शीतोष्णं न च पश्यति।
सन्तुष्टश्चरते नित्यं त्रीणि शिक्षेच्च गर्दभात्॥ २१ ॥

दो० थकेहु बोझ ढोयो करै, लखै न गरमी, सीत।
बिचरै नित सन्तुष्ट, यह खर सों सीखौ मीत॥ २१ ॥

अत्यन्त थक जाने पर भी बोझे को ढोते जाना, शीत और गर्मी पर दृष्टि न देना, सदा सन्तुष्ट होकर विचरना, इन तीनों बातों को गधे से सीखना चाहिए॥ २१ ॥

य एतान् विंशतिगुणानाचरिष्यति मानवः।
कार्यावस्थासु सर्वासु अजेयः स भविष्यति॥ २२ ॥

दो० जो ये बीसौ गुन धरै, काज करै मन देय ।
सिद्ध होहिं वह सर्वदा पावत ध्येय अजेय ॥ २२ ॥

जो नर इन बीस गुणों को धारण करेगा, वह सदा सब अवस्थाओं और सब कार्यों में विजयी होगा ॥ २२ ॥

सातवाँ अध्याय

अर्थनाशं मनस्तापं गृहिणीचरितानि च ।
नीचवाक्यं चापमानं मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥ १ ॥

दो० द्रव्यनास, मन-ताप त्यों नारिचरित, अपमान ।
नीच बचन, इनको करै प्रकट कबौं न सुजान ॥ १ ॥

धन का नाश, मन का ताप, गृहिणी का चरित, नीच वचन और अपमान, इनको बुद्धिमान् पुरुष न प्रकाशित करे ॥ १ ॥

धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च ।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत् ॥ २ ॥

दो० विद्या-संग्रह, अन्न-धन, लेन देन के काज ।
भोजन मैं, व्यवहार मैं, सुख पावै तजि लाज ॥ २ ॥

अन्न और धन के व्यापार में, विद्या का संग्रह करने में, आहार और व्यवहार में जो पुरुष लज्जा को दूर रक्खेगा, वही सुखी होगा ॥ २ ॥

सन्तोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तिरेव च ।
न च तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ ३ ॥

दो० सन्तोषामृत-तृप्त जन, पावत जो सुख-शान्ति--
इत-उत धावत लोभबस, लहत न सो परिभ्रान्ति ॥ ३ ॥

सन्तोषरूपी अमृत से जो लोग तृप्त हैं, उनको जो शान्ति और सुख होता है, वह धन के लोभियों को, जो इधर-उधर दौड़ा करते हैं, नहीं होता ॥ ३ ॥

सन्तोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने ।
त्रिषु चैव न कर्तव्योऽध्ययने जपदानयोः ॥ ४ ॥

दो० भोजन, धन, निज नारि मैं, करहु सदा संतोष ।
दान, पठन, जप महँ किये तोष बड़ोई दोष ॥ ४ ॥

अपनी स्त्री, भोजन और धन, इन तीनों में संतोष करना चाहिए। पढ़ना, जप और दान, इन तीन में संतोष कभी न करना चाहिए ॥४॥

विप्रयोर्विप्रवह्न्योश्च दम्पत्योः स्वामिभृत्ययोः ।
अन्तरेण न गन्तव्यं हलस्य वृषभस्य च ॥ ५ ॥

रो० छं० युगल बिप्र के बीच, बिप्र अरु अग्नि बीच है।
पति-पत्नी के बीच, स्वामि-सेवक नगीच है।
त्यों हल-बृष के बीच, मित्रवर, कबौं न जैये।
नीति-वचन यह मानि, सदा सुख-संपति पैये ॥ ५ ॥

दो ब्राह्मण और ब्राह्मण-अग्नि, स्त्री-पुरुष, स्वामी और भृत्य, हल और बैल, इनके बीच से होकर नहीं जाना चाहिए ॥ ५ ॥

पादाभ्यां न स्पृशेदग्निं गुरुं ब्राह्मणमेव च ।
नैव गां न कुमारीं च न वृद्धं न शिशुं तथा ॥ ६ ॥

दो० गुरुजन, गो, ब्राह्मण, अनल, वृद्ध, कुमारी, बाल ।
इन्हैं पाँय सों जनि छुओ, बुद्धिमान तिहुँ काल ॥ ६ ॥

अग्नि, गुरु, ब्राह्मण, गऊ, कुमारी, वृद्ध और बालक को पैर से न छूना चाहिए ॥ ६ ॥

शकटं पञ्चहस्तेन दशहस्तेन वाजिनम्।
हस्ती हस्तसहस्रेण देशत्यागेन दुर्जनः ॥ ७ ॥

दो० हय कहँ दस पुनि पाँच ही हाथ सकट तजु भागि।
हाथी हाथ हजार त्यों, दुर्जन देसहि त्यागि ॥ ७ ॥

गाड़ी को पाँच हाथ पर, घोड़े को दस हाथ पर, हाथी को हजार हाथ पर और दुर्जन को देश-त्याग करके छोड़ना चाहिए ॥ ७ ॥

हस्ती अंकुशमात्रेण वाजी हस्तेन ताड्यते।
शृंगी लगुडहस्तेन खड्गहस्तेन दुर्जनः ॥ ८ ॥

दो० हाथिहि अंकुस मारिये, हयहि मारिये हाथ।
लाठी सों शृंगी पसुहिं, खलहि खड्ग के साथ ॥ ८ ॥

हाथी केवल अंकुश से और घोड़ा हाथ से मारा जाता है। सींगों-वाले जन्तु लाठी से और दुर्जन तरवार से दण्डनीय हैं ॥ ८ ॥

तुष्यन्ति भोजने विप्रा मयूरा घनगर्जिते।
साधवः परसम्पत्तौ खलाः परविपत्तिषु ॥ ९ ॥

दो० मोर तुष्ट घन की गरज, ब्राह्मण लहि आहार।
दुष्ट और की लखि बिपति, संपति साधु उदार ॥ ९ ॥

भोजन के समय ब्राह्मण और मेघ के गर्जने पर मयूर, दूसरे को सम्पत्ति प्राप्त होने पर साधु और दूसरे पर विपत्ति आने से दुर्जन संतुष्ट होते हैं ॥ ९ ॥

अनुलोमेन बलिनं प्रतिलोमेन दुर्जनम्।
आत्मतुल्यबलं शत्रुं विनयेन बलेन वा ॥ १० ॥

रो० छं० बस करिये अनुकूल भाव सों शत्रु बली को।
त्यों रहिकै प्रतिकूल नवावहु दुष्ट छली को॥
और शत्रु जो निज समान बलवालो पावहु,
त्यहि बलसों अथवा बिनीत बनि बस मैं लावहु॥ १०॥

बली शत्रु को उसके अनुकूल व्यवहार करके और यदि वह दुर्जन हो तो उसे प्रतिकूलता से वश करे। अपने समान बली शत्रु को विनय से अथवा बल से जीते॥ १०॥

बाहुवीर्यं बलं राज्ञां ब्राह्मणो ब्रह्मविद् बली।
रूपयौवनमाधुर्यं स्त्रीणां बलमनुत्तमम्॥ ११॥

दो० बाहु-वीर्य बल भूप को, द्विज को ब्रह्मज्ञान।
रूप, जवानी, माधुरी, नारी को बल जान॥ ११॥

राजा का बाहुवीर्य बल है। ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी व वेदपाठी बली होता है। सुन्दरता, जवानी और मधुरता स्त्रियों का अतिउत्तम बल है॥ ११॥

नात्यन्तं सरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम्।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः॥१२॥

दो० अति सूधे बनि जनि रहौ, लखौ जाय बन माँहि।
सूधे काटे जात तरु, टेढ़े सब बचि जाँहि॥ १२॥

अत्यन्त सीधे स्वभाव से नहीं रहना चाहिए। वन में जाकर देखो, सीधे वृक्ष काटे जाते हैं और टेढ़े खड़े रहते हैं॥ १२॥

यत्रोदकं तत्र वसन्ति हंसा-
स्तथैव शुष्कं परिवर्जयन्ति।

न हंसतुल्येन नरेण भाव्यं
पुनस्त्यजन्तः पुनराश्रयन्ते ॥ १३ ॥

दो० जहाँ उदक तहँ हंस बस, सूखे सर सों भाग।
हंसतुल्य नर होइ नहिं, पुनि आश्रय, पुनि त्याग ॥ १३ ॥

जहाँ जल रहता है वहीं हंस बसते हैं, और सूखे सर को छोड़ देते हैं। नर को हंस के समान नहीं रहना चाहिए। वे बार-बार छोड़ देते हैं और बार-बार आश्रय लेते हैं ॥ १३ ॥

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परिस्राव इवाम्भसाम् ॥ १४ ॥

दो० द्रव्य उपार्जित की कही, रच्छा दान, बिलास।
बनो रहै सरवर यथा राखे नीर निकास ॥ १४ ॥

अर्जित धन का व्यय करना ही उसकी रक्षा है। जैसे तड़ाग के भीतर के जल को निकाल देने ही से उसकी रक्षा होती है ॥ १४ ॥

यस्यार्थस्तस्य मित्राणि यस्यार्थस्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थः स पुमाँल्लोके यस्यार्थः स च जीवति ॥१५॥

दो० मित्र बन्धु वाके सबै, धन है जाके पास।
मर्द वही, जीवै वही, धन मैं सब गुन बास ॥ १५ ॥

जिसके धन है, उसी के मित्र होते हैं, उसी के बन्धु होते हैं, वही पुरुष गिना जाता है, वही जीता है ॥ १५ ॥

स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके
चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे।

दानप्रसङ्गो मधुरा च वाणी
देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च ॥ १६ ॥

दो० स्वर्गागत नर के सदा चार चिह्न ये जान--
मधुर वचन, द्विज-देवता पूजन, करिबो दान ॥ १६ ॥

संसार में आने पर स्वर्ग से आनेवालों के ये चार चिह्न रहते हैं—दान का स्वभाव, मीठे वचन, देवता की पूजा, ब्राह्मण को तृप्त करना। अर्थात् जिन लोगों में दान आदि लक्षण रहें, उनको जानना चाहिए कि अपने पुण्य के प्रभाव से उन स्वर्गवासियों ने मर्त्यलोक में अवतार लिया है ॥ १६ ॥

अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी
दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
नीचप्रसङ्गः कुलहीनसेवा
चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम् ॥ १७ ॥

दो० अति दरिद्र नितही रहै, बैर स्वजन सों राख।
नीच-संग नितही करै, कटुक वचन त्यों भाख ॥
अतिक्रोधी, कुलहीन की सेवा करै अजान।
जितने जन हैं नारकी, तिनकी ये पहिचान ॥ १७ ॥

अत्यन्त क्रोध, कटु वचन, दरिद्रता, अपने जनों में वैर, नीच का संग, कुलहीन की सेवा, ये चिह्न नरकवासियों की देहों में रहते हैं ॥ १७ ॥

गम्यते यदि मृगेन्द्रमन्दिरं
लभ्यते करिकपालमौक्तिकम्।

जम्बुकालयगते च प्राप्यते
वत्सपुच्छखरचर्मखण्डनम् ॥ १८ ॥

दो० सिंह-गुहा मैं पाइए गजमुक्ता अभिराम।
स्यार-माँद मैं त्यौं मिलैं बत्सपुच्छ, खर-चाम ॥ १८ ॥

यदि कोई सिंह की गुहा में जा पड़े तो उसको हाथी के मस्तक का मोती मिलता है और सियार के स्थान में जाने पर बछड़े की पूँछ और गधे के चमड़े का टुकड़ा मिलता है ॥ १८ ॥

शुनः पुच्छमिव व्यर्थं जीवितं विद्यया विना।
न गुह्यगोपने शक्तं न च दंशनिवारणे ॥ १९ ॥

दो० जीवन विद्या के बिना स्वान-पुच्छ सम व्यर्थ।
दंस-निवारन, गुह्य के गोपन को न समर्थ ॥ १९ ॥

कुत्ते की पूँछ के समान विद्या विना जीना व्यर्थ है। जैसे कुत्ते की पूँछ गुप्त इन्द्रिय को ढाँप नहीं सकती, न मच्छड़ आदि जीवों को उड़ा सकती है, वैसे ही मूर्ख पुरुष न छिपाने की बात को छिपा सकता है और न शत्रुओं के आक्रमण को व्यर्थ कर सकता है ॥ १९ ॥

वाचां शौचं च मनसः शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया शौचमेतच्छौचं परार्थिनाम् ॥ २० ॥

दो० परमार्थिन को सौच है मन, बानी की सुद्धि।
इन्द्रिय-जय सब पै दया, देह-सौच सुभ बुद्धि ॥ २० ॥

वचन की शुद्धि, मन की शुद्धि, इन्द्रियों का सयम, जीवों पर दया और पवित्रता, यही परार्थियों (परमार्थ या मुक्ति चाहनेवालों) की शुद्धि है ॥ २० ॥

पुष्पे गन्धं तिले तैलं काष्ठे वह्निं पयोघृतम् ।
इक्षौ गुडं तथा देहे पश्यात्मानं विवेकतः ॥ २१ ॥

रो० छं० गंध फूल मैं, तथा तेल तिल मैं ज्यों पेरे ।
काठ बीच ज्यों आगि, दूध मैं घृत पुनि हेरे ॥
जथा जतन सों गुड़हि ऊँख-रस सों निकारिये ।
त्यों बिबेक सों देह बीच आतमा निहारिये ॥ २१ ॥

जैसे फूल में गन्ध, तिल में तेल, काठ में आग, दूध में घी, ऊख में गुड़, वैसे ही देह में स्थित आत्मा को विचार से देखो ॥ २१ ॥

आठवाँ अध्याय

अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः ।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम् ॥ १ ॥

दो० धनहिं अधम, धन-मानहू मध्यम चहैं सुजान ।
उत्तम मानहि मानहीं, धन मान ही महान ॥ १ ॥

अधम धन ही चाहते हैं, मध्यम धन और मान; पर उतम जन मान ही चाहते हैं । कारण, महात्माओं का धन मान ही है ॥ १ ॥

इक्षुरापः पयो मूलं ताम्बूलं फलमौषधम् ।
भक्षयित्वाऽपि कर्तव्याःस्नानदानादिकाःक्रियाः ॥ २ ॥

दो० नीर, ऊँखरस, मूल, फल, दवा दूध त्यों पान ।
इन्हैं खाहहू कीजिए स्नान, ध्यान अरु दान ॥ २ ॥

ऊख, जल, दूध, मूल, पान, फल और दवा, इन वस्तुओं के खाने-पीने पर भी स्नान-दानादि क्रियाएँ करनी चाहिए ॥ २ ॥

दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्ष्यते नित्यं जायते तादृशी प्रजा ॥ ३ ॥

दो० उपजावै काजर दिया, अंधकार कहँ खाइ।
अन्न खाइ जैसो प्रजा वैसी ही उपजाइ ॥ ३ ॥

दीपक अन्धकार को खा जाता है और काजल को पैदा करता है। सत्य है, जो जैसा अन्न सदा खाता है, उसके वैसी ही सन्तति होती है ॥ ३ ॥

वित्तं देहि गुणान्वितेषु मतिमन्नान्यत्र देहि क्वचित्,
प्राप्तं वारिनिधेर्जलं घनमुखे माधुर्ययुक्तं सदा।
जीवान्स्थावरजङ्गमांश्च सकलान्संजीव्य भूमण्डलं,
भूयः पश्य तदेव कोटिगुणितं गच्छन्तमम्भोनिधिम् ४

रो० छं० हे सुजान, धन देहु गुनी कहँ, औरन नाहीं।
सागर को जल होत मधुर पहुँचो घन माहीं ॥
सकल चराचर जीव महीमण्डलहि जियाई।
देखौ पुनि सोइ अमित होइ सागर महँ जाई ॥ ४ ॥

हे मतिमन्! गुणियों को धन दो, औरों को कभी मत दो। देखो, जल समुद्र से मेघ के मुख में प्राप्त होकर सदा मधुर हो जाता है, और पृथ्वी पर चर, अचर सब जीवों को जिलाकर फिर वही जल कोटिगुना होकर उसी समुद्र में चला जाता है ॥ ४ ॥

चाण्डालानां सहस्रैश्च सूरिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
एको हि यवनः प्रोक्तो न नीचो यवनात्परः ॥ ५ ॥

दो० इक हजार चंडाल सों नीच जवन इक होइ।
बुध तत्त्वज्ञ कहैं—नहीं नीच जवन सों कोइ ॥ ५ ॥

तत्त्वदर्शियों ने कहा है कि सहस्र चाण्डालों के तुल्य एक यवन होता है। यवन से नीच दूसरा कोई नहीं ॥ ५ ॥

तैलाभ्यङ्गे चिताधूमे मैथुने चौरकर्मणि।
तावद्भवति चाण्डालो यावत्स्नानं समाचरेत् ॥ ६ ॥

दो० छौर किये, तेलहि मले, चिता-धूम तन लाइ।
सुरति किये, चंडाल है, जौलौं नाहिं नहाइ ॥ ६ ॥

तेल लगाने पर, चिता का धूम लगने पर, स्त्रीप्रसंग करने पर, बाल बनवाने पर मनुष्य जब तक स्नान नहीं करता, तब तक चाण्डाल ही बना रहता है ॥ ६ ॥

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्।
भोजने चामृतं वारि भोजनान्ते विषं भवेत् ॥ ७ ॥

दो० जल है औषध अपच मैं, पचे करै बलदान।
भोजन मैं पीयूष सों, भोजनान्त विष मान ॥ ७ ॥

जल अपच होने पर औषध है, पच जाने पर बल को देता है, भोजन के समय अमृत के समान है और भोजन के अन्त में विष का फल देता है ॥ ७ ॥

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हतश्चाज्ञानतो नरः।
हतं निर्नायकं सैन्यं स्त्रियो नष्टा ह्यभर्तृकाः ॥ ८ ॥

दो० ज्ञान बिना आचरन नर, बिना ज्ञान के भ्रष्ट।
सेना सेनापति बिना, स्वामी बिन तिय नष्ट ॥ ८ ॥

क्रिया (आचरण) के विना ज्ञान व्यर्थ है। अज्ञान से नर मारा जाता है। सेनापति के विना सेना मारी जाती है। स्वामी-हीन स्त्री नष्ट हो जाती है॥ ८ ॥

वृद्धकाले मृता भार्या बन्धुहस्तगतं धनम्।
भोजनं च पराधीनं तिस्रः पुंसां विडम्बनाः॥ ९॥

दो० मरै बुढ़ापे मैं तिया, धन बन्धुन के हाथ।
पराधीन भोजन, गनौ बिडम्बना दुख साथ॥ ९॥

बुढ़ापे में मरी स्त्री, बन्धु के हाथ में गया धन, दूसरे के अधीन भोजन, ये तीन बातें पुरुषों की विडम्बना हैं, अर्थात् दुःखदायक होती हैं॥ ९॥

अग्निहोत्रं विना वेदा न च दानं विना क्रिया।
न भावेन विना सिद्धिस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥१०॥

दो० अग्निहोत्र बिन वेद त्यों, क्रिया बिना ही दान।
बिना भाव के सिद्धि नहिं, जानौ भाव प्रधान॥ १०॥

अग्निहोत्र के विना वेद का पढ़ना व्यर्थ होता है, दान के विना यज्ञादि क्रिया नहीं बनता। भाव के विना कोई सिद्धि नहीं होती। इसलिए भाव ही सबका कारण है॥ १०॥

न देवे विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥११॥

दो० माटी, पाथर, काठ मैं, ईश्वर को नहिं बास।
बसत भाव मैं देवता, करु यह दृढ़ विश्वास॥ ११॥

देवता न तो काठ में हैं, न पाषाण में हैं, न मृत्तिका की मूर्त्ति

में हैं। निश्चय ही देवता भाव में विद्यमान हैं। इस हेतु भाव ही सबका कारण है ॥ ११ ॥

शान्तितुल्यं तपो नास्ति न सन्तोषात्परं सुखम् ।
न तृष्णायाः परो व्याधिर्न च धर्मो दयापरः ॥१२॥

दो० शान्तितुल्य तप नाहिं, नहिं सुख सन्तोष समान ।
व्याधि न तृष्णा सम, नहीं धर्म दया सम आन ॥ १२ ॥

न शान्ति के समान दूसरा तप है, न सन्तोष से परे सुख। न तृष्णा से अधिक दूसरी व्याधि है और न दया से अधिक धर्म ॥ १२ ॥

क्रोधो वैवस्वतो राजा तृष्णा वैतरणी नदी ।
विद्या कामदुघा धेनुः सन्तोषो नन्दनं वनम् ॥१३॥

दो० तृष्णा बैतरणी नदी, है जम राजा रोष ।
कामधेनु बिद्या सही, नन्दन बन सन्तोष ॥ १३ ॥

क्रोध यमराज है, तृष्णा वैतरणी नदी है, विद्या कामधेनु है और सन्तोष इन्द्र की वाटिका है ॥ १३ ॥

गुणो भूषयते रूपं शीलं भूषयते कुलम् ।
सिद्धिर्भूषयते विद्यां भोगो भूषयते धनम् ॥ १४ ॥

दो० कुल को भूषन सील है, गुन को भूषन रूप ।
बिद्याभूषन सिद्धि, धन भूषन भोग अनूप ॥ १४ ॥

गुण रूप को भूषित करता है, शील कुल को अलंकृत करता है, सिद्धि विद्या को भूषित करती है और भोग धन को भूषित करता है ॥ १४ ॥

निर्गुणस्य हतं रूपं दुःशीलस्य हतं कुलम् ।
असिद्धस्य हता विद्या अभोगेन हतं धनम् ॥ १५ ॥

दो० वृथा रूप गुनहीन को, कुल कुसील सों व्यर्थ।
अधकचरी बिद्या, बिना भोग व्यर्थ है अर्थ ॥ १५ ॥

गुण-हीन की सुन्दरता व्यर्थ है, शील-हीन का कुल निंदित होता है, सिद्धि के बिना विद्या व्यर्थ है, भोग के बिना धन व्यर्थ है॥ १५॥

शुद्धं भूमिगतं तोयं शुद्धा नारी पतिव्रता।
शुचिः क्षेमकरो राजा सन्तोषी ब्राह्मणः शुचिः ॥१६॥

दो० सुद्ध भूमिगत जल गनौ, पतिव्रता तिय सुद्ध।
प्रजापाल नृप, सुद्ध द्विज सन्तोषी हिय सुद्ध ॥ १६ ॥

भूमिगत जल पवित्र होता है, पतिव्रता स्त्री पवित्र होती है, कल्याण करनेवाला राजा पवित्र गिना जाता है और ब्राह्मण सन्तोषी शुद्ध होता है ॥ १६ ॥

असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः संतुष्टाश्च महीभृतः।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जा च कुलांगना ॥१७॥

दो० असन्तुष्ट द्विज, तुष्ट नृप, वेश्या लज्जाजुक्त।
कुलतिय त्यों निर्लज्ज, ये नष्ट नीति मैं उक्त ॥ १७ ॥

असंतोषी ब्राह्मण, संतोषी राजा, लज्जासहित वेश्या और लज्जा-हीन कुलान स्त्री नष्ट हो जाती है ॥ १७ ॥

किं कुलेन विशालेन विद्याहीनेन देहिनाम्।
दुष्कुलं चापि विदुषो देवैरपि स पूज्यते ॥ १८ ॥

दो० कुल ऊँचो किहि काम को, जो है बिद्या नाहिं।
नीच कुलहु विद्वान जो, देवहु पूजत वाहि ॥ १८ ॥

विद्याहीन बड़े कुल से मनुष्यों को क्या लाभ है? विद्वान् का नीच कुल भी देवताओं से पूजा पाता है ॥ १८ ॥

विद्वान् प्रशस्यते लोके विद्या सर्वत्र गौरवम् ।
विद्यया लभते सर्वं विद्या सर्वत्र पूज्यते ॥ १९ ॥

दो० बुधहिं सराहत सब, करै बिद्या गौरव-दान ।
बिद्या सबही देत, सोइ पूजा हेत प्रधान ॥ १९ ॥

संसार में विद्वान् ही प्रशंसित होता है, विद्वान् ही सब स्थान में आदर पाता है, विद्या ही से सब कुछ मिलता है, विद्या ही सब स्थानों में पूजित होती है ॥ १९ ॥

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥२०॥

दो० रूप-जवानी-कुल सहित, सोह न विद्या-हीन ।
बिना गन्ध किंसुक कुसुम, जथा बृथा रंगीन ॥ २० ॥

बिना गंध के टेसू के फूल की भाँति सुन्दरता और जवानी से युक्त और बड़े कुल में उत्पन्न होकर भी विद्याहीन मनुष्य नहीं सोहते ॥२०॥

मांसभक्ष्यैः सुरापानैर्मूर्खैश्चाक्षरवर्जितैः ।
पशुभिः पुरुषाकारैर्भाराक्रान्ता हि मेदिनी ॥ २१ ॥

दो० मांस खात, मदिरा पियैं, मूर्ख निरच्छर लोग ।
वे नर पशु भूभार हैं, नहिं संगति के जोग ॥ २१ ॥

मांस-भक्षण और मदिरा-पान करनेवाले, निरक्षर और मूर्ख पुरुषाकार पशुओं के भार से पृथ्वी पीड़ित रहता है ॥ २१ ॥

अन्नहीनो दहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनश्च ऋत्विजः ।
यजमानं दानहीनो नास्ति यज्ञसमो रिपुः ॥ २२ ॥

दो० दहै राष्ट्र कहँ अन्न बिनु, बिना दान जजमान।
मन्त्रहीन ह्वै ऋत्विजन, रिपु न जज्ञ सम आन ॥ २२ ॥

यज्ञ यदि अन्नहीन हो तो राज्य को, मन्त्रहीन हो तो ऋत्विजों को और दानहीन हो तो यजमान को जलाता है। इस कारण यज्ञ के समान कोई शत्रु नहीं है ॥ २२ ॥

नवाँ अध्याय

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयाशौचं सत्यं पीयूषवत्पिब ॥ १ ॥

दो० मुक्ति चहौ तौ बिष विषय, छोड़ि, सरलता, साँच।
छमा, दया त्यों शौच को, अमृत पियौ हित जाँच ॥ १ ॥

हे भाई! यदि मुक्ति चाहते हो तो विषयों को विष के समान छोड़ दो और सहनशीलता, सरलता, दया, पवित्रता और सचाई को अमृत का नाईं पियो ॥ १ ॥

परस्परस्य मर्माणि ये भाषन्ते नराधमाः।
त एव विलयं यान्ति वल्मीकोदरसर्पवत् ॥ २ ॥

दो० कहैं परस्पर मर्म की बातैं जो नर नीच।
ते बिलात, जैसे मरैं विषधर बाँबी बीच ॥ २ ॥

जो नराधम परस्पर अन्तरात्मा को दुःखदायक वचनों का भाषण करते हैं, निश्चय हा वे नष्ट हो जाते हैं, जैसे बाँबा में फँसकर साँप ॥ २ ॥

गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे
नाकारि पुष्पं खलु चन्दनस्य।

विद्वान् धनी भूपतिर्दीर्घजीवी
धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत् ॥ ३ ॥

छं० सोने माहिं सुगन्ध, ऊँख मैं फल न लगायो।
चन्दन मैं नहिं फूल, न पंडित धनी बनायो॥
चिरजीवी नहिं कियो नृपति, मतिहीन बिधाता।
रह्यो न पहले कोऊ, बिधातहिं मति को दाता॥ ३॥

सुवर्ण में गन्ध, ऊँख में फल, चन्दन में फूल, विद्वान् को धनी और राजा को चिरजीवी नहीं किया। इससे निश्चय है कि विधाता को पहले कोई बुद्धि देनेवाला न था॥ ३॥

सर्वौषधीनाममृता प्रधाना
सर्वेषु सौख्येष्वशनं प्रधानम्।
सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानं
सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानम् ॥ ४ ॥

दो० है आहार प्रधान सुख, इन्द्रिय नयन प्रधान।
औषध गुर्च प्रधान, सिर अंग प्रधान प्रमान॥ ४॥

सब ओषधियों में गुर्च, सब सुखों में भोजन, सब इन्द्रियों में आँख और सब अंगों में शिर श्रेष्ठ है॥ ४॥

दूतो न संचरति खे न चलेच्च वार्ता
पूर्वं न जल्पितमिदं न च सङ्गमोऽस्ति।
व्योम्नि स्थितं रविशशिग्रहणं प्रशस्तं
जानाति यो द्विजवरः स कथं न विद्वान् ॥५॥

छं० दूत न आवत जात, न कोऊ समाचार कहुँ आवै ।
कोऊ प्रथम बतावत नाहीं, संगहु नहिं है पावै ॥
तऊ जु सूरज-चंद्र-ग्रहन कहँ, गगन बीच बतलावै ।
सो द्विजवर विद्वान ज्ञाननिधि, कहौ क्यों न कहलावै ॥ ५ ॥

आकाश में न तो दूत जा सकता है, न वार्ता की चर्चा ही चल सकती है, न पहले से ही किसी ने कह रक्खा है, न किसी से संगम हो सकता है, ऐसी दशा में द्विजवर आकाश में स्थित सूर्य-चन्द्रमा के ग्रहण को स्पष्ट जानता है, वह कैसे विद्वान् नहीं है ॥५॥

विद्यार्थी सेवकः पान्थः क्षुधार्तो भयकातरः ।
भाण्डारी प्रतिहारी च सप्त सुप्तान् प्रबोधयेत् ॥ ६ ॥

चौ० भूखे, पथिक तथा भंडारी । विद्यार्थी, सेवक, प्रतिहारी ॥
भय सों बिकल, सात ये भाई । सोवत हू दीजिये जगाई ॥ ६ ॥

विद्यार्थी, सेवक, पथिक, भूख से पीड़ित, भय से कातर, भंडारी और द्वारपाल, ये सात यदि सोते भी हों तो जगा देना चाहिए॥६॥

अहिं नृपं च शार्दूलं वृटिं च बालकं तथा ।
परश्वानं च मूर्खं च सप्त सुप्तान्न बोधयेत् ॥ ७ ॥

चौ० साँप, भूप, मूरख नर जोई । और परायो कूकुर होई ॥
बरैं, बालक, सिंह जु पाओ । सोवत महँ ये नाहिं जगाओ ॥ ७ ॥

साँप, राजा, व्याघ्र, बरैंया, बालक, दूसरे का कुत्ता और मूर्ख, ये सात सोते हों, तो इन्हें नहीं जगाना चाहिए ॥ ७ ॥

अर्थाधीताश्च यैर्वेदास्तथा शूद्रान्नभोजिनः ।
ते द्विजाः किं करिष्यन्ति निर्विषा इव पन्नगाः ॥ ८ ॥

दो० वेद पढ़े धनकाज जो, खाहिं सूद्र को धान।
विप्र कहा वे करि सकैं निर्विष नाग समान ॥ ८ ॥

जिन ब्राह्मणों ने धन के लिए वेद को पढ़ा है और शूद्रों का अन्न भोजन करते हैं, वे विषहीन सर्प के समान क्या कर सकते हैं ॥ ८ ॥

यस्मिन् रुष्टे भयं नास्ति तुष्टे नैव धनागमः।
निग्रहोऽनुग्रहो नास्ति स रुष्टः किं करिष्यति ॥ ९ ॥

दो० जाके रूठे भय नहीं, तूठे नहिं धन-लाह।
दंड, कृपा, कछु नाहिं, सो रूठि करैगो काह ? ॥ ९ ॥

जिसके क्रुद्ध होने पर न भय है, न प्रसन्न होने पर धन का लाभ, जो न दण्ड दे सकता है, न अनुग्रह कर सकता है, वह रुष्ट होकर क्या करेगा ॥ ९ ॥

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फणा।
विषमस्तु न चाप्यस्तु घटाटोपो भयङ्करः ॥ १० ॥

दो० बिन बिषहू के साँप को चाहिय फन फुफकार।
सब आडम्बर सों डरैं, को देखै बिषझार ॥ १० ॥

विषहीन साँप को भी अपना फन निकालना चाहिए। इस कारण कि विष हो या न हो, पर आडम्बर भयजनक होता है ॥ १० ॥

प्रातर्द्यूतप्रसङ्गेन मध्याह्ने स्त्रीप्रसङ्गतः।
रात्रौ चौरप्रसङ्गेन कालो गच्छति धीमताम् ॥ ११ ॥

दो० प्रात द्यूतचर्चा करैं दुपहर तिया-चरित्र।
बुद्धिमान रातहिं पढ़ैं चोर-प्रसंग पवित्र ॥ ११ ॥

प्रातःकाल में जुआरियों की कथा से अर्थात् महाभारत से, मध्याह्न में स्त्रीप्रसंग से अर्थात् रामायण से, रात्रि में चोर की

वार्ता से अर्थात् भागवत की वार्ता से बुद्धिमानों का समय बीतता है। तात्पर्य यह कि महाभारत के सुनने से यह निश्चय हो जाता है कि जुआ कलह और छल का घर है, इस लोक और परलोक में उपकार करनेवाले कामों को, महाभारत में लिखी हुई रीतियों से करने पर उन कामों का पूरा फल होता है। इस कारण बुद्धिमान् लोग प्रातःकाल ही महाभारत को सुनते हैं, जिसमें दिन भर उसी रीति से काम करते जायँ। रामायण सुनने से स्पष्ट उदाहरण मिलता है कि स्त्री के वश होने से अत्यन्त दुःख होता है, और परस्त्री पर दृष्टि देने से पुत्र, कलत्र तथा जड़मूल के साथ पुरुष का नाश हो जाता है। इस हेतु मध्याह्न में अच्छे लोग रामायण को सुनते हैं। प्रायः रात्रि में लोग इन्द्रियों के वश हो जाते हैं, और इन्द्रियों का यह स्वभाव है कि मन को अपने-अपने विषयों में लगाकर जीव को विषयों में लगा देती हैं। इसी कारण इन्द्रियों को आत्मापहारी भी कहते हैं। जो लोग रात को भागवत सुनते हैं, वे कृष्ण के चरित्र को स्मरण करके इन्द्रियों के वश नहीं होते; क्योंकि सोलह हज़ार से अधिक स्त्रियों के रहते भी श्रीकृष्णचन्द्र इन्द्रियों के वश न हुए, जिससे लोगों को इन्द्रियों के संयम की रीति का ज्ञान होता है॥ ११॥

स्वहस्तग्रथिता माला स्वहस्तघृष्टचन्दनम्।
स्वहस्तलिखितं स्तोत्रं शक्रस्यापि श्रियं हरेत्॥१२॥

दो॰ गुँथी माल निज हाथ की, स्तोत्र आपु लिखि लीन।
चन्दन अपने कर घिस्यो, इन्द्र करै श्रीहीन॥ १२॥

अपने हाथ से गुथी माला, अपने हाथ से घिसा चन्दन, अपने हाथ से लिखा स्तोत्र, ये इन्द्र की भी लक्ष्मी को हर लेते हैं॥ १२॥

इक्षुदण्डास्तिलाः शूद्राः कान्ता हेम च मेदिनी।
चन्दनं दधि ताम्बूलं मर्दनं गुणवर्द्धनम् ॥ १३ ॥

दो० ऊँख, सूद्र, तिल, मेदिनी, दधि, सुबरन अरु पान।
कामिनि, चन्दन, मर्दिये, होत तबै गुन जान ॥ १३ ॥

ऊख, तिल, शूद्र, कान्ता, सोना, पृथ्वी, चन्दन, दही, पान, ये ऐसे पदार्थ हैं कि इनका मर्दन गुणवर्धक होता है ॥ १३ ॥

दरिद्रता धीरतया विराजते
कुवस्त्रता शुभ्रतया विराजते।
कदन्नता चोष्णतया विराजते
कुरूपता शीलतया विराजते ॥ १४ ॥

दो० दारिद धीरज पाइकै, स्वेत कुचीर हु छाज।
गरम कुअन्न तऊ रुचै, सील कुरूपहि साज ॥ १४ ॥

धीरता से दरिद्रता भी शोभती है, स्वच्छता से कुवस्त्र भी सुन्दर जान पड़ता है, उष्णता से कुअन्न भी मीठा लगता है, सुशीलता से कुरूपता भी शोभती है ॥ १४ ॥

दसवाँ अध्याय

धनहीनो न हीनश्च धनिकः स सुनिश्चयः।
विद्यारत्नेन हीनो यः स हीनः सर्ववस्तुषु ॥ १ ॥

दो० निर्धन धन सों हीन नहिं, जानौ यहै प्रबीन।
विद्यारतन-बिहीन ही सब बस्तुन सों हीन ॥ १ ॥

निर्धन होने से कोई धनहीन नहीं गिना जाता; किन्तु जो धनी होते हुए भी विद्यारत्न से हीन है, वह सब वस्तुओं से हीन है॥ १ ॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
शास्त्रपूतं वदेद्वाक्यं मनःपूतं समाचरेत् ॥ २ ॥

दो० देखि पाँव मग दीजिए, पानी पीजै छानि।
वचन शास्त्र-संगत कहौ, काज ठीक मन ठानि ॥ २ ॥

दृष्टि से शोधकर पाँव रक्खे, वस्त्र से शुद्ध कर जल पीवे, शास्त्र से शुद्धकर वाक्य बोले तथा मन से सोचकर कार्य करना चाहिए॥ २ ॥

सुखार्थी चेत्त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी चेत्त्यजेत्सुखम्।
सुखार्थिनः कुतो विद्या सुखं विद्यार्थिनः कुतः ॥ ३ ॥

दो० सुख चाहौ बिद्या तजौ, सुख तजु बिद्या चाहि।
सुखअर्थिहि विद्या कहाँ, सुख बिद्यार्थिहि नाहिं ॥ ३ ॥

यदि सुख चाहे तो विद्या को छोड़ दे, यदि विद्या चाहे तो सुख का त्याग करे; क्योंकि सुखार्थी को विद्या कैसे मिलेगी, और विद्यार्थी को सुख कैसे मिलेगा ॥ ३ ॥

कवयः किं न पश्यन्ति किं न कुर्वन्ति योषितः।
मद्यपाः किं न जल्पन्ति किं न खादन्ति वायसाः ॥४॥

दो० का न लखैं कबिजन, कहा नारि न करै सुभाय।
कहा सराबी नहिं बकै, काग कहा नहिं खाय ॥ ४ ॥

कवि क्या नहीं देखते, स्त्री क्या नहीं कर सकती, मद्यप क्या नहीं बकते तथा कौए क्या नहीं खाते ॥ ४ ॥

रङ्कं करोति राजानं राजानं रङ्कमेव च।
धनिनं निर्धनं चैव निर्धनं धनिनं विधिः॥ ५॥

चौ० करै बिधाता रंकहि राजा। राजहिं रंक एक पल साजा।
धनी बनावै निर्धन काहीं। निर्धन धनी पुरुष छन माहीं॥ ५॥

यह निश्चय है कि विधि रंक को राजा, राजा को रंक, धनी को निर्धन और निर्धन को धनी कर देता है॥ ५॥

लुब्धानां याचकः शत्रुर्मूर्खाणां बोधको रिपुः।
जारस्त्रीणां पतिः शत्रुश्चौराणां चन्द्रमा रिपुः॥ ६॥

दो० जाचक लोभिन को, स्वपति व्यभिचारिनिहि सुछंद।
उपदेशक रिपु मूर्ख को, चोरन को रिपु चंद॥ ६॥

लोभियों का वैरी याचक होता है, मूर्खों का शत्रु समझानेवाला होता है, पुंश्चली स्त्रियों का शत्रु पति होता है और चोरों का शत्रु चन्द्रमा होता है॥ ६॥

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥ ७॥

दो० जिनके विद्या, दान, तप, सील, धरम, गुन नाहिं।
नर-पसु भू के भार वे, बिचरैं भूतल माहिं॥ ७॥

जिन लोगों को न विद्या है, न तप है, न दान है, न शील है, न गुण है और न धर्म, वे संसार में पृथ्वी पर भाररूप होकर मनुष्यरूप से पशु फिर रहे हैं॥ ७॥

अन्तःसारविहीनानामुपदेशो न जायते ।
मलयाचलसंसर्गान्न वेणुश्चन्दनायते ॥ ८ ॥

दो० सून्य-हृदय जन को कबौं, देत न फल उपदेस ।
मलय-संग सों बाँस कहुँ, होत न चंदन-बेस ॥ ८ ॥

गंभीरताविहीन पुरुषों को शिक्षा देना सार्थक नहीं होता; क्योंकि मलयाचल के संग से बाँस चन्दन नहीं हो जाता ॥ ८ ॥

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥ ९ ॥

दो० शास्त्र कहा ताको करै, जाके नेक न ज्ञान ।
अंधे को दरपन कहा, करै दृष्टि को दान ? ॥ ९ ॥

जिसको स्वाभाविक बुद्धि नहीं है, उसका शास्त्र क्या कर सकता है । आँखों से हीन को दर्पण क्या करेगा ॥ ९ ॥

दुर्जनं सज्जनं कर्तुमुपायो नहि भूतले ।
अपानं शतधा धौतं न श्रेष्ठमिन्द्रियं भवेत् ॥१०॥

दो० करिबे को दुर्जन सुजन, नहिं उपाय संसार ।
गुदा नहीं सुचि ह्वै सकै, धोये सौ-सौ बार ॥ १० ॥

दुर्जन को सज्जन करने के लिए पृथ्वीतल में कोई उपाय नहीं है, मल के त्याग करनेवाली इन्द्रिय (गुदा) सौ बार धोई जाय तो भी श्रेष्ठ इन्द्रिय (मुख) न होगी ॥ १० ॥

आप्तद्वेषाद्भवेन्मृत्युः परद्वेषाद्धनक्षयः ।
राजद्वेषाद्भवेन्नाशो ब्रह्मद्वेषात्कुलक्षयः ॥ ११ ॥

छं० महापुरुष के द्वेष मृत्यु निहचै ही जानौ।
किये शत्रु सों द्वेष नास धन को अनुमानौ॥
राजा सों जो द्वेष करै तो नास प्रमानौ।
बंस-नास ही होत बिप्र सों बैर जु ठानौ॥ ११॥

बड़ों के द्वेष से मृत्यु होती है, शत्रु से विरोध करने पर धन का क्षय होता है, राजा के द्वेष से नाश होता है और ब्राह्मण के द्वेष से कुल का क्षय होता है॥ ११॥

वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं
द्रुमालयं पत्रफलाम्बुसेवनम्।
तृणेषु शय्या शतजीर्णवल्कलं
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्॥ १२॥

छं० भले जाय बन माहिं बाघ गज बीच निबहिए।
जल, फल, पाती खाय घास ही पै परि रहिए॥
बलकल फाटे पहिरि कष्ट सिगरेई सहिए।
पै निर्धन ह्वै बन्धु बीच बसिबो नहिं चहिए॥ १२॥

वन में बाघ और बड़े-बड़े हाथियों से सेवित वृक्ष के नीचे पत्ते और फल खाना, जल पीकर ही रहना, घास पर सोना, सौ टुकड़े के बल्कलों को पहिनना यह बहुत अच्छा है; परन्तु बन्धुओं के मध्य में धनविहीन होकर जीना श्रेष्ठ नहीं है॥ १२॥

विप्रो वृक्षस्तस्य मूलं च सन्ध्या
वेदः शाखा धर्मकर्माणि पत्रम्।
तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं
छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्॥ १३॥

छं० सन्ध्या जाको मूल बृच्छ ब्राह्मन सो मानौ।
धर्म-कर्म हैं पत्र, बेद साखा अनुमानौ॥
यासों करिकै जतन मूल की रच्छा ठानौ।
मूल कटे पै नहीं पत्र, नहिं साखा जानौ॥ १३॥

ब्राह्मण वृक्ष है, सन्ध्या उसकी जड़ है, वेद शाखा है और धर्म-कर्म पत्ते हैं। इस कारण बड़े प्रयत्न से जड़ की रक्षा करनी चाहिए; क्योंकि जड़ कट जाने पर न शाखा रहेगी, न पत्ते॥ १३॥

माता च कमला देवी पिता देवो जनार्दनः।
बान्धवा विष्णुभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्॥१४॥

दो० जानौ जननी लच्छमी, पिता विष्णु देवेस।
बान्धव हरि के भक्तजन, त्रिभुवन अपनो देस॥ १४॥

लक्ष्मी जिसकी माता हैं, विष्णु भगवान् पिता हैं और विष्णु के भक्त बान्धव हैं, उसको तीनों लोक भी स्वदेश के सदृश हैं॥ १४॥

एकवृक्षसमारूढा नानावर्णा विहङ्गमाः।
प्रभाते दिक्षु दशसु का तत्र परिदेवना॥ १५॥

दो० पंछी बहु इक बृच्छ म, निसि बसि होत सबेर--
दस दिसि उड़िगे, कौन है सोच कहौ यहि केर॥ १५॥

एक वृक्ष पर नाना प्रकार के पखेरू बैठते हैं और प्रभात समय दस दिशाओं में हो जाते हैं, उसमें उन्हें क्या शोच?॥ १५॥

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेश्च कुतो बलम्।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः॥ १६॥

दो० जाके बुधि सोई बली, मूरख के बल नाहिं।
लखौ घमंडी सिंह कहँ, हत्यो ससक छिन माहिं॥ १६॥

जिसके बुद्धि है उसी के बल भी है। निर्बुद्धि के बल कहाँ से होगा। देखो, वन में मद से उन्मत्त सिंह भी बुद्धिमान् ख़रगोश से मारा जाता है॥ १६॥

का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते
नो चेदर्भकजीवनाय जननीस्तन्यं कथं निःसरेत्।
इत्यालोच्य मुहुर्मुहुर्यदुपते लक्ष्मीपते केवलं
त्वत्पादाम्बुजसेवनेन सततं कालो मया नीयते॥ १७॥

रूपघनाक्षरीदंडक

चिन्ता जीविका की कहा जगत मैं जीवन को,
जो पै जगदीस नाम जपिये सदा पवित्र।
जो न यह होतौ तौ जनम लेत बालक के,
स्तन माहिं माता के उतरतो न दूध मित्र॥
जानि यहै मन माहिं लक्ष्मीपति, जदुनाथ,
ध्यायो करौं राम-कृष्ण आदि अवतार-चित्र।
तेरे चरनन ही की सेवा में लग्यो मैं रहौं,
गायो करौं पावन सुहावने सदा चरित्र॥ १७॥

मुझे जीविका की क्या चिन्ता है, यदि हरि विश्व का पालनेवाला कहलाता है। ऐसा न होता तो वह बच्चे के जीने के लिए माता के स्तन में दूध कैसे बनाते, इसी को बार-बार विचार करके हे यदुपते, हे लक्ष्मीपते, सदा केवल आपके चरण-कमल की सेवा से मैं समय को बिताता हूँ॥ १७॥

गीर्वाणवाणीषु विशिष्टबुद्धि-
स्तथापि भाषान्तरलोलुपोऽहम्।

यथा सुधायाममरेषु सत्यां
स्वर्गाङ्गनानामधरासवे रुचिः ॥१८॥

रो० छं० संस्कृत को अभ्यास जदपि सब विधि संपूरन।
औरहु भाषा सीखन की है चाह तऊ मन॥
ज्यों देवन को सुधा-पान सों प्रीति घनी है।
तऊ अप्सरा-अधर सुरस रुचि रहत बनी है॥ १८॥

यद्यपि संस्कृत भाषा में विशेष ज्ञान है तथापि मैं दूसरी भाषा का भी लोभी हूँ, जैसे अमृत के रहते हुए भी देवताओं की इच्छा स्वर्ग की स्त्रियों के अधरासव में रहती है॥ १८॥

अन्नाद्दशगुणं पिष्टं पिष्टाद्दशगुणं पयः।
पयसोऽष्टगुणं मांसं मांसाद्दशगुणं घृतम्॥ १९॥

रो० छं० पोषक है दसगुनो अन्न सों वाको चूरन।
चूरन सों दसगुनो दूध पोषक संपूरन॥
और अठगुनो मांस दूध सों है बलदायक।
मांसहु सों दसगुनो समझिए घृत गुनकारक॥ १९॥

अन्न से दसगुना आटे में, आटे से दसगुना दूध में, दूध से अठगुना मांस में और मांस से दसगुना घी में गुण होता है॥ १९॥

शाकेन रोगा वर्द्धन्ते पयसा वर्द्धते तनुः।
घृतेन वर्द्धते वीर्यं मांसान्मांसं प्रवर्द्धते॥ २०॥

दो० रोग साग सों, दूध सों बढ़ै देह सारांस।
वीर्यवृद्धि घृत सों तथा बढ़ै मांस सों मांस॥ २०॥

साग से रोग बढ़ते हैं, दूध से शरीर बढ़ता है, घृत से वीर्य बढ़ता है और मांस से मांस॥ २०॥

ग्यारहवाँ अध्याय

दातृत्वं प्रियवक्तृत्वं धीरत्वमुचितज्ञता ।
अभ्यासेन न लभ्यन्ते चत्वारः सहजा गुणाः ॥ १ ॥

दो० दान-बानि, प्रिय बोलिबो, धीरज, उचित विचार ।
सीखे ते नहिं पाइए, स्वाभाविक गुन चार ॥ १॥

उदारता, प्रिय बोलना, धीरता, उचित का ज्ञान, ये अभ्यास से नहीं मिलते, क्योंकि ये चारों स्वाभाविक गुण हैं ॥ १ ॥

आत्मवर्गं परित्यज्य परवर्गं समाश्रितः ।
स्वयमेव लयं याति यथा राजान्यधर्मतः ॥ २ ॥

दो० अपने दल को त्यागिकै, दूजे के दल जाय ।
आप मिटै वह, ज्यों नृपति करि अधर्म, अन्याय ॥ २ ॥

जो अपनी मण्डली को छोड़ परवर्ग का आश्रय लेता है, वह आप ही लय को प्राप्त हो जाता है, जैसे कि राजा अधर्म से ॥ २ ॥

हस्ती स्थूलतनुः सचाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशो
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः ।
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रं नगा-
स्तेजो यस्य विराजते स बलवान्स्थूलेषु कः प्रत्ययः ॥ ३ ॥

क० थूल तन हाथी को, रहै सो बस अंकुश के,
अंकुश कहा है बड़ो हाथी सों बड़ाई माहिं ।
दीप को प्रकास अन्धकार को बिनास करै,
दीप अन्धकार असमान ही बखाने जाहिं ॥

कोटि-कोटि काटि-काटि कुलिश गिराये गिरि,
तुलना मैं बज्र छोटो, भूधर बड़े दिखाहिं ।
तेज है बिराजमान जाके बलवान सोई,
थूलता कदापि सदा बल को प्रमान नाहिं ॥ ३ ॥

हाथी का स्थूल शरीर है, वह भी अंकुश के वश रहता है, तो क्या अंकुश हाथी के समान है ? दीप के जलने पर अन्धकार आप ही नष्ट हो जाता है, तो क्या दीप तम के तुल्य है ? बिजली के मारे पर्वत गिर जाते हैं, तो क्या बिजली पर्वत के समान है ? अर्थात् जिसमें तेज विराजमान रहता है, वही बलवान् गिना जाता है। मोटे होने का कौन विश्वास है ?॥ ३ ॥

कलौ दशसहस्राणि हरिस्त्यजति मेदिनीम् ।
तदर्द्धं जाह्नवी तोयं तदर्द्धं ग्रामदेवताः ॥ ४ ॥

रो० छं० गये बरस दस सहस मही हरि कलि मैं त्यागैं ।
तासु अर्ध ही समय गये पर गङ्गा भाग ॥
ग्राम-देवता तासु अर्ध मैं ग्राम तजैंगे ।
(घोर भये कलिकाल भोग ही लोग भजैंगे) ॥ ४ ॥

कलियुग में दश सहस्र वर्ष बीतने पर विष्णु पृथ्वी को, उसके आधे पर गङ्गाजी जल को, उसके आधे बीतने पर ग्राम-देवता ग्राम को छोड़ देते हैं ॥ ४ ॥

गृहासक्तस्य नो विद्या नो दया मांसभोजिनः ।
द्रव्यलुब्धस्य नो सत्यं स्त्रैणस्य न पवित्रता ॥ ५ ॥

चौ० बिषयी को विद्या नहिं आवै । दया मांसभोजी नहिं लावै ॥
लोभी सत्य कबौं नहिं भाखै । स्त्रीजित नहिं पवित्रता राखै ॥५॥

गृह में आसक्त पुरुषों में विद्या, मांस के आहारी में दया, द्रव्य-लोभी में सत्यता और व्यभिचारी में पवित्रता नहीं होती ॥ ५ ॥

न दुर्जनः साधुदशामुपैति
बहुप्रकारैरपि शिक्ष्यमाणः ।
आमूलसिक्तः पयसा घृतेन
न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति ॥ ६ ॥

रो० छं० सीख देहु बहु भाँति न दुर्जन सज्जन होई ।
जैसे जड़ में सदा दूध घृत सींचहु कोई,
किन्तु नीम को वृक्ष, कटुक जो है स्वभाव सों,
मीठो ह्वै है नाहिं दूध-घृत के प्रभाव सों ॥ ६ ॥

यह निश्चय है कि दुर्जन अनेक प्रकार से भी सिखलाया जाय, पर उसमें साधुता नहीं आती। जैसे कि दूध और घृत से नींब का वृक्ष जड़ से भी सींचा जाय, पर उसमें मधुरता नहीं आती ॥ ६ ॥

अन्तर्गतमलो दुष्टस्तीर्थस्नानशतैरपि ।
न शुद्ध्यति यथा भाण्डं सुराया दाहितं च यत् ॥ ७ ॥

दो० मलिन-हृदय खल होत नहिं, तीर्थ नहाये शुद्ध ।
मदिरा-घट ज्यों आगि मैं, जारेहु रहै अशुद्ध ॥ ७ ॥

जिसके हृदय में पाप है, वही दुष्ट है, वह तीर्थ में सौ बार स्नान करने से भी शुद्ध नहीं होता, जैसे मदिरा का पात्र जलाया भी जाय तो भी शुद्ध नहीं होता ॥ ७ ॥

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं
स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम् ।

यथा किराती करिकुम्भलब्धां
मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम् ॥ ८ ॥

चौ० जो जाके जानै गुन नाहीं । सो तेहि निन्दत है जग माहीं ।
ज्यों भिल्लिनि गजमुक्ता त्यागै । गुंजा-फल पहिरै अनुरागै ॥ ८ ॥

जो जिसके गुण की प्रकर्षता नहीं जानता, वह निरन्तर उसकी निन्दा ही करता है, जैसे भिल्लिनी हाथी के मस्तक के मोती को छोड़ घुँघची को पहनती है ॥ ८ ॥

ये तु संवत्सरं पूर्णं नित्यं मौनेन भुञ्जते ।
युगकोटिसहस्रं तैः स्वर्गलोके महीयते ॥ ९ ॥

दो० एक बरस भोजन करै, जो जन धारे मौन ।
कोटि सहस जुग स्वर्ग मैं, सुख सों निवसत तौन ॥ ९ ॥

जो वर्ष भर नित्य चुपचाप भोजन करता है, वह सहस्रकोटि युगों तक स्वर्गलोक में पूजा जाता है ॥ ९ ॥

कामक्रोधौ तथा लोभं स्वादुशृङ्गारकौतुके ।
अतिनिद्रातिसेवे च विद्यार्थी ह्यष्ट वर्जयेत् ॥ १० ॥

दो० लोभ, स्वाद, कौतुक तथा काम, क्रोध, सिंगार ।
बहुत नींद, सेवा तजै, विद्यारथी उदार ॥ १० ॥

काम, क्रोध, लोभ, मीठी वस्तु, शृंगार, खेल, अतिनिद्रा और अतिसेवा, इन आठों को विद्यार्थी छोड़ दे ॥ १० ॥

अकृष्टफलमूलानि वनवासरतिः सदा ।
कुरुतेऽहरहः श्राद्धमृषिर्विप्रः स उच्यते ॥ ११ ॥

चौ० बनबासी, बिन जोते उपजत । जो फल-मूल खायं सो संयत ॥
नित्य श्राद्ध श्रद्धा सों ठानै । शास्त्र ताहि ब्रह्मर्षि बखानै ॥ ११ ॥

जो विना जोती हुई भूमि से उत्पन्न फल व मूल को खाकर सदा वनवास करता हो और प्रतिदिन श्राद्ध करे, ऐसा ब्राह्मण ऋषि कहलाता है ॥ ११ ॥

एकाहारेण सन्तुष्टः षट्कर्मनिरतः सदा ।
ऋतुकालाभिगामी च स विप्रो द्विज उच्यते ॥ १२ ॥

चौ० एक अहार करै सन्तोषी । निज षट्कर्म निरत निर्दोषी ॥
ऋतु के समय नारि अभिलाखै । सो ब्राह्मण द्विज, यों श्रुति भाखै॥ १२॥

जो एक समय के भोजन से सन्तुष्ट रहकर पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना और लेना, इन छः कर्मों में सदा रत रहे और ऋतुकाल में स्त्री का संग करे, ऐसे ब्राह्मण को द्विज कहते हैं ॥ १२ ॥

लौकिके कर्मणि रतः पशूनां परिपालकः ।
वाणिज्यकृषिकर्मा यः स विप्रो वैश्य उच्यते ॥१ ३॥

दो० निरत लोक के काम में, पसु पालै बिन मानु ।
बनिज और खेती करै, बिप्र वैश्य सो जानु ॥ १३ ॥

जो सांसारिक कर्म में रत हो, पशुओं का पालन, बनियाई और खेती करनेवाला हो, वह विप्र वैश्य कहलाता है ॥ १३ ॥

लाक्षादितैलनीलीनां कौसुम्भमधुसर्पिषाम् ।
विक्रेता मद्यमांसानां स विप्रः शूद्र उच्यते ॥ १४ ॥

दो० लाख, तेल, मद, मांस, घृत, कुसुम, नील, मधु आदि ।
बेचै जो सो सूद्र है, ब्राह्मन-जन्महि बादि ॥ १४ ॥

लाख आदि पदार्थ, तेल, नील, कुसुम का रंग, मधु, घी, मद्य और मांस, इनका जो बेचनेवाला हो उस ब्राह्मण को शूद्र कहते हैं ॥ १४ ।

परकार्यविहन्ता च दाम्भिकः स्वार्थसाधकः ।
छली द्वेषी मृदुः क्रूरो विप्रो मार्जार उच्यते ॥ १५ ॥

दो० दम्भी, द्वेषी, स्वारथी, छली, सुकोमल, क्रूर ।
काम बिगारै और को, द्विज बिलाव सो पूर ॥ १५ ॥

जो दूसरे के काम को बिगाड़नेवाला, दम्भी, अपने ही अर्थ का साधनेवाला, छली, द्वेषी, ऊपर से मृदु और अन्तःकरण में क्रूर हो वह ब्राह्मण बिलार कहा जाता है ॥ १५ ॥

वापीकूपतडागानामारामसुरवेश्मनाम् ।
उच्छेदननिराशङ्कः स विप्रो म्लेच्छ उच्यते ॥ १६ ॥

दो० कूप, बावली, बाग, सर, सुर-मन्दिर निःसंक ।
जोइ उजारै म्लेच्छ सो, द्विज निज बंस-कलंक ॥ १६ ॥

बावली, कुआँ, तालाब, वाटिका और देवालय का उच्छेदन करने में जो निडर हो वह ब्राह्मण म्लेच्छ है ॥ १६ ॥

देवद्रव्यं गुरुद्रव्यं परदाराभिमर्शनम् ।
निर्वाहः सर्वभूतेषु विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥ १७ ॥

दो० देवद्रव्य, गुरुद्रव्य ले, पर-नारी-रत होइ ।
सबके धन निरबाह कर, द्विज चांडालहि सोइ ॥ १७ ॥

देवता का द्रव्य और गुरु का द्रव्य जो हरता है और पर-स्त्री से प्रसंग करता है और सब प्राणियों के धन से निर्वाह कर लेता है, वह विप्र चाण्डाल कहलाता है ॥ १७ ॥

देयं भोज्यधनं धनं सुकृतिभिर्नो सञ्चयस्तस्य वै
श्रीकर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्तिः स्थिता।
अस्माकं मधुदानभोगरहितं नष्टं चिरात्सञ्चितं
निर्वाणादिति नैजपादयुगलं घर्षन्त्यहो माक्षिकाः १८

सवैया

सुकृती धन देइ औ भोग करै, नहिं संचय में रहै आठौ घरी।
बलि, विक्रम, कर्न की कीरति आजु लौं है थिर दान सों ना बिसरी॥
नहिं दीन्ह्यो, न भोग कियो चिर-संचित, यों कहती मनु दुःख-भरी---
मधुमाखी गँवाय सबै मधु को कर दोऊ मलो करै सोच परी॥ १८॥

सुकृतियों को चाहिए कि भोग-योग्य धन को और द्रव्य को दें और कभी उनका संचय न करें ; क्योंकि कर्ण, बलि, विक्रमादित्य इन राजाओं की कीर्ति इस समय तक वर्तमान है। दान-भोग से रहित बहुत दिन से संचित मधुमक्खियों का मधु नष्ट हो जाता है और वे मधु का नाश होने के कारण ही मानों दोनों पाँवों को घिसा करती हैं या दोनों हाथ मला करती हैं॥ १८॥

बारहवाँ अध्याय

सानन्दं सदनं सुतास्तु सुधियः कान्ता प्रियालापिनी
इच्छापूर्तिधनं स्वयोषिति रतिः स्वाज्ञापराः सेवकाः।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः सङ्गमुपासते च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥ १॥

कवित्त

भवन अनंद-भरो, नन्दन सुबुद्धि सबै,
नारि प्रियवादिनी हैं, और कहा चहिए।
रति निज नारि मैं, यथेष्ट धन-संपति है,
हुकुम बजावैं सबै सेवक, जु कहिए॥
अतिथि की सेवा, सिवपूजन, मिठाई, पक-
वान खान-पान कै प्रसन्नता को लहिए।
साधुन की संगति उपासना मैं बीतैं दिन,
धन्य है गृहस्थी, सदा घर ही में रहिए॥ १॥

यदि आनन्दयुत घर मिले और लड़के पण्डित हों, स्त्री मधुर-भाषिणी हो, इच्छा के अनुसार धन हो, अपनी ही स्त्री में रति हो, आज्ञापालक सेवक मिलें, अतिथि की सेवा और शिव की पूजा होता जाय, प्रतिदिन गृह में ही मीठा अन्न और जल मिले, सर्वदा साधु के संग की उपासना हो, तो गृहस्थाश्रम ही धन्य है॥ १॥

आर्तेषु विप्रेषु दयान्वितश्च
यच्छ्रद्धया स्वल्पमुपैति दानम्।
अनन्तपारं समुपैति राजन्!
यद्दीयते तन्न लभेद्द्विजेभ्यः॥ २॥

दो० दियो दया-श्रद्धा सहित, आरत विप्रहि जौन।
तो थोरहु बहु ह्वै मिले, उतनोई नहिं तौन॥ २॥

जो दयावान् पुरुष आर्त ब्राह्मणों को श्रद्धा से थोड़ा भी दान देता है, उस पुरुष को वह अनन्त होकर मिलता है। जो दिया जाता है, वही ब्राह्मणों से नहीं मिलता॥ २॥

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने स्मयः खलजने विद्वज्जने चार्जवम् ।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता
इत्थं ये पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥ ३ ॥

क० करत उदारता स्वजन सों, सु दुर्जन सों,
सठता, दयाहू पर जन सों सँभारे हैं ।
साधुन सों प्रीति, अभिमान खलदल हू सों,
बुध सों सरल व्यवहार ही बिचारे हैं ॥
सत्रुन सों सूरता, क्षमा त्यों गुरुलोगन सों,
धूर्तता के साथ काम नारी सों निकारे हैं ।
या बिधि कलान में कुशल जो सुजान जन,
वेई मरजादा और वेई लोक धारे हैं ॥ ३ ॥

अपने जन से अनुकूलता, दूसरे जन पर दया, दुर्जन से सदा दुष्टता, साधु जन में प्रीति, खल से अभिमान, विद्वानों से सरलता, शत्रु जन से शूरता, बड़े लोगों के विषय में क्षमा, स्त्री से काम पड़ने पर धूर्तता, इस प्रकार से जो लोग इन कलाओं में कुशल होते हैं, उन्हीं में लोक की मर्यादा रहती है ॥ ३ ॥

हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणौ
नेत्रे साधुविलोकनेन रहिते पादौ न तीर्थङ्गतौ ।
अन्यायार्जितवित्तपूर्णमुदरं गर्वेण तुङ्गं शिरो
रे रे जम्बुक मुञ्च मुञ्च सहसा नीचं सुनिन्द्यं वपुः ॥ ४ ॥

छं० दान दियो नहिं हाथ, श्रवन शास्त्रन नहिं लाये ।
निरखे नैन न साधु, पाँय तीरथ न मँझाये ॥

अनुचित धन भरि पेट, गरब सों सीस उठाये ।
रे सियार, तजु निंद्य नीच तन, अजस कमाये ॥ ४ ॥

जिनके हाथ दान से रहित हैं, कान वेद और शास्त्र के विरोधी हैं, नेत्रों ने साधु का दर्शन नहीं किया, पाँवों ने तीर्थ गमन नहीं किया, अन्याय से अर्जित धन से उदर भरा गया है और गर्व से शिर ऊँचा हो रहा है, रे रे सियाररूपी नीच मनुष्य, ऐसे निंद्य शरीर को शीघ्र छोड़ दे ॥ ४ ॥

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणां
येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा ।
येषां श्रीकृष्णलीलाललितरसकथासादरौ नैव कर्णौ
धिक्तान्धिक्तान्धिगेतान्कथयतिसततंकीर्तनस्थोमृदङ्गः ५

स० जसुदासुत के पद-पंकज-भक्ति हियो जिनको नहिं नेक गहै ।
रसना बृषभानुजा-नाथ-गुनावलि में अनुरक्त भई न रहै ॥
नहिं सादर कृष्ण की लीला-कथा-रस पान कियो जुग कान चहै ।
धिक है, धिक है, धिक है तिनको, यह कीर्तन माहिं मृदंग कहै ॥५॥

श्रीयशोदासुत के पदकमल में जिन लोगों की भक्ति नहीं रहती, जिन लोगों की जीभ अहीरों की कन्याओं के प्रिय अर्थात् कृष्ण के गुणगान में प्रीति नहीं रखती और जिनके कान श्रीकृष्णजी की लीला की ललित कथा का आदर नहीं करते, उन लोगों को धिक् है, धिक् है, धिक् है ऐसा कीर्तन का मृदंग सदा कहा करता है ॥५॥

पत्रं नैव यदा करीलविटपे दोषो वसन्तस्य किं
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ।

वर्षा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं।
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कःक्षमः ६॥

स० निकसैं न करील के पात, बसंत को दोष न काऊ लगाइ सकै।
न उलूक लखै दिन मैं तो कोऊ रबि को अपराध न पाइ सकै॥
घन को कहा दोष जो चातक के मुख वारि को बूँद न जाइ सकै।
बिधना लिखि दीन्हें जु भाल मैं अङ्क तिन्हैं भला कौन मिटाइ सकै॥६॥

यदि करील के वृक्ष में पत्ते नहीं होते तो वसन्त का क्या अपराध? यदि उलूक दिन में नहीं देखता तो सूर्य का क्या दोष? और यदि वर्षा का जल चातक के मुख में नहीं पड़ता तो इसमें मेघ का क्या अपराध? अर्थात् ब्रह्मा ने जो कुछ पहले ही ललाट में लिख रक्खा है, उसे मिटाने को कौन समर्थ है?॥ ६॥

सत्सङ्गाद्भवति हि साधुता खलानां
साधूनां नहि खलसङ्गतः खलत्वम्।
आमोदं कुसुमभवं मृदेव धत्ते
मृद्गन्धं न हि कुसुमानि धारयन्ति॥ ७॥

रो० छं० दुष्ट होत हैं साधु पाय सतसङ्गति काहीं।
खल-संगति सों साधु गहै खलता कहुँ नाहीं॥
फूलन की बरु महक मनोहर धारै माटी।
पै माटी की महक फूल नहिं, यह परिपाटी॥ ७॥

यह निश्चय है कि अच्छे के संग से दुर्जनों में भी साधुता आ जाती है, परन्तु साधुओं में दुष्टों की संगति से असाधुता नहीं आती। जैसे फूल की गन्ध को मिट्टी ग्रहण कर लेती है, परन्तु मिट्टी की गन्ध को फूल कभी नहीं धारण करते॥ ७॥

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः ।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः ॥ ८ ॥

दो० साधु-दरस पावन परम, साधु तीर्थ को रूप ।
यथासमय तीरथ फलैं, तुरत सुसंग अनूप ॥ ८ ॥

साधुओं का दर्शन ही पुण्य है, इस कारण कि साधु तीर्थरूप हैं । तीर्थ समय से फल देता है, परन्तु साधुओं का संग शीघ्र ही मनोरथ पूर्ण कर देता है ॥ ८ ॥

विप्रास्मिन्नगरे महान् कथय कस्तालद्रुमाणां गणः
को दाता रजको ददाति वसनं प्रातर्गृहीत्वा निशि ।
को दक्षः परवित्तदारहरणे सर्वोऽपि दक्षो जनः
कस्माज्जीवसि हे सखे विषकृमिन्यायेन जीवाम्यहम् ॥ ९ ॥

क० बिप्र, या नगर में बड़ो है कौन ? कहिए तो,
ताड़ ही के पेड़ बड़े खड़े लखि पावते ।
दाता कौन देख्यो ? एक रजक निहार्‍यो जो,
बसन लै सबेरे साँझ ही को धोय लावते ॥
परधन-पर-नारी-हरन-प्रबीन कौन ?
यामें हैं चतुर लोग सब ही सुभाव ते ।
कैसे तुम मीत जियौ ? जैसे बिष-कीट जियै,
वाही विधि जीवन के दिन हैं बितावते ॥ ९ ॥

हे विप्र ! इस नगर में कौन बड़ा है ? ताड़ के पेड़ों का समुदाय । कौन दाता है ? धोबी, प्रातःकाल वस्त्र लेकर रात्रि में दे देता है । चतुर कौन है ? दूसरे का धन और स्त्री के हरण में सब ही कुशल हैं । कैसे जीते हो ? हे मित्र ! जैसे विष का कीड़ा विष ही में जीता है, वैसे ही मैं भी जीता हूँ ॥ ९ ॥

न विप्रपादोदककर्दमानि न वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि। स्वाहास्वधाकारविवर्जितानि श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि ॥ १० ॥

छं० द्विज-पादोदक-कीच होत जिनमैं न निहारी।
बेदशास्त्र-धुनि होत कबौं नहिं जिनमें भारी ॥
होत न स्वाहा-स्वधा-सब्द जिनके भीतर हैं।
ते मसान के तुल्य अपावन निन्दित घर हैं ॥ १० ॥

जिस घर में ब्राह्मणों के पाँवों के जल से कीचड़ न हुआ हो, और न वेद-शास्त्र के शब्द की गर्जना, और जो स्वाहा-स्वधा से रहित हो, उस घर को श्मशान के समान समझना चाहिए ॥ १० ॥

सत्यं माता पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया सखा।
शान्तिः पत्नी क्षमा पुत्रः षडेते मम बान्धवाः ॥ ११ ॥

दो० दया सखा, भाई धरम, पिता हमारो ज्ञान।
सत्य जननि, सुत है दया, पत्नी शान्ति सुजान ॥ ११ ॥

सत्य मेरी माता है और ज्ञान पिता, धर्म मेरा भाई है और दया मित्र, शान्ति मेरी स्त्री है और क्षमा पुत्र—ये ही मेरे छः बन्धु हैं ॥ ११ ॥

किसी संसारी पुरुष ने ज्ञानी को देखकर चकित होकर पूछा कि संसार में माता, पिता, भाई, मित्र, स्त्री और पुत्र ये जितने ही अच्छे-से-अच्छे हों उतना ही संसार में आनन्द होता है। तुझको परम आनन्द में मग्न देखता हूँ, सो तेरे भी कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई उनमें से होगा। ज्ञानी ने समझा कि जिस दशा को देखकर यह चकित है, वह दशा क्या सांसारिक कुटुम्बियों से हो सकती है? इस कारण जिनसे मुझे परम आनन्द होता है, उन्हीं को इससे कहूँ।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥ १२ ॥

दो० तन अनित्य, धन नहिं रहै, यहै नीति को मर्म।
नित्य मृत्यु सिर पर खड़ी, संग्रह करिये धर्म ॥ १२ ॥

शरीर अनित्य है, विभव भी सदा नहीं रहता, मृत्यु सदा निकट ही रहती है, इस कारण सदा धर्म का संग्रह करना चाहिए ॥ १२ ॥

निमन्त्रणोत्सवा विप्रा गावो नवतृणोत्सवाः।
पत्युत्साहयुता नार्योऽहं कृष्णचरणोत्सवः ॥ १३ ॥

दो० पाय निमन्त्रन द्विज, गऊ नई घास स्वच्छन्द।
पिय को लहि तिय, हरिचरन-रति सों मोहिं अनन्द ॥ १३ ॥

निमन्त्रण ब्राह्मणों का उत्सव, नवीन घास गायों का उत्सव और पति के उत्साह से स्त्रियों का उत्सव होता है। मेरे लिए तो कृष्ण के चरण ही उत्सव हैं ॥ १३ ॥

मातृवत्परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति ॥ १४ ॥

दो० परनारी माता सरिस, माटी सम परद्रव्य।
सब प्रानी अपने सरिस, देखैं पंडित भव्य ॥ १४ ॥

दूसरे की स्त्री को माता के समान, दूसरे के द्रव्य को ढेले के समान और सब प्राणियों को अपने समान जो देखता है, वही देखता है ॥ १४ ॥

धर्मे तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहता

मित्रेऽवञ्चकता गुरौ विनयता चित्तेऽतिगम्भीरता।
आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेषु विज्ञानता
रूपे सुन्दरता शिवे भजनता त्वय्यस्ति भो राघव १५॥

छं० निज धर्म में तत्परता, प्रिय बैन, उछाह सों दान में चाह बनाये।
छल मित्र सों नाहिं, बिनै गुरु लोगन, चित्त में नित्त गँभीरता लाये॥
सुचि आचरनै, गुनगाहक हौ, सब सास्त्र-पुरानन ज्ञान बढ़ाये।
सिव-भक्ति, सरूप की सुंदरता, तुम में गुन राघव ये सब पाये॥ १५॥

धर्म में तत्परता, मुख में मधुरता, दान में उत्साह, मित्र के विषय में निश्छलता, गुरु से नम्रता, अन्तःकरण में गम्भीरता, आचार में पवित्रता, गुण में रसिकता, शास्त्रों में विशेष ज्ञान, रूप में सुन्दरता और शिव की भक्ति, हे राघव! ये गुण आप ही में हैं १५॥

काष्ठं कल्पतरुः सुमेरुरचलश्चिन्तामणिः प्रस्तरः
सूर्यस्तीव्रकरः शशी क्षयकरः क्षारो हि वारांनिधिः।
कामो नष्टतनुर्बलिर्दितिसुतो नित्यं पशुः कामगौ-
र्नैतांस्ते तुलयामि भो रघुपते कस्योपमा दीयते १६॥

क० कल्पतरु काठ है, सुमेर हू अचल और
चिन्तामनि पाथर, जऊ है मनि परमा।
सूर्य को है तेज तीखो, चन्द्रमा के छय रोग,
और खारी सागर, न नेकु मन में जमा॥
काम है अनंग, बलि राजा हैं असुर, काम-
धेनु पसुजाति की है, यासों नहीं उत्तमा।
सिगरे समान उपमान ये न राघव हैं,
कौन कहाँ खोजिए तिहारी और उपमा॥ १६॥

कल्पवृक्ष काठ है, सुमेरु अचल है, चिन्तामणि पत्थर है, सूर्य की किरणें अत्यन्त उष्ण हैं, चन्द्रमा की किरणें क्षीण हो जाती हैं, समुद्र खारा है, काम शरीर-हीन है, बलि दैत्य है और कामधेनु पशु है। हे रघुपते ! इस कारण आपके साथ इनकी तुलना नहीं हो सकती; फिर आपको किसकी उपमा दी जाय ॥ १६ ॥

विद्या मित्रं प्रवासे च भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च ॥१७॥

दो० विद्या मित्र प्रवास में, घर में नारी मित्र।
रोगी की औषध, मरे धर्म मित्र सुपवित्र ॥ १७ ॥

प्रवास में विद्या हित करती है, घर में स्त्री मित्र है, रोगग्रस्त व्यक्ति का हित औषध से होता है और मरे हुए का उपकार धर्म करता है ॥ १७ ॥

विनयं राजपुत्रेभ्यः पण्डितेभ्यः सुभाषितम्।
अनृतं द्यूतकारेभ्यः स्त्रीभ्यः शिक्षेत कैतवम्॥ १८ ॥

दो० राजपुत्र सों सिखु बिनय, बुध सों भाषन नीक।
झूठ जुआरी सों, कपट नारी सों सिखु ठीक ॥ १८ ॥

सुशीलता राजा के लड़कों से, प्रिय वचन पण्डितों से, असत्य जुआरियों से और छल स्त्रियों से सीखना चाहिए ॥ १८ ॥

अनालोक्य व्ययं कर्त्ता ह्यनाथः कलहप्रियः।
आतुरः सर्वक्षेत्रेषु नरः शीघ्रं विनश्यति ॥ १९ ॥

दो० बिना बिचारे ब्यय करै, कलही अरु असहाय।
आतुर, सब नारिन रमै, सो नर बेगि नसाय ॥ १९ ॥

बिना विचारे व्यय करनेवाला, सहायक के न रहने पर भी कलह में प्रीति रखनेवाला और सब जाति की स्त्रियों में भोग के लिए ललचानेवाला पुरुष शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥

नाहारं चिन्तयेत्प्राज्ञो धर्ममेकं हि चिन्तयेत् ।
आहारो हि मनुष्याणां जन्मना सह जायते ॥२०॥

दो० भोजन की चिन्ता न करु, धरु धर्महि को ध्यानु ।
भोजन आयोजन भयो, जनम साथ ही जानु ॥ २० ॥

पण्डित को आहार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, एक धर्म को ही सोचना चाहिए, इसलिए कि आहार मनुष्यों के जन्म के साथ ही उत्पन्न होता है ॥ २० ॥

धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणे तथा ।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत् ॥ २१ ॥

दो० बिद्या-संग्रह, अन्न, धन, लेन-देन ब्यवहार ।
भोजन में तजि लाज को, सुखी होत नर, यार ॥ २१ ॥

जो धन-धान्य का व्यवहार करने में, विद्या के पढ़ने-पढ़ाने में, आहार और राजा की सभा में तथा किसी के साथ विवाद करने में, लज्जा को छोड़ देगा वही सुखी होगा ॥ २१ ॥

जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ॥ २२ ॥

दो० बूँद बूँद सों घट भरै क्रम सों यही उपाय ।
विद्या, धन को, धर्म को संचय करु मन लाय ॥ २२ ॥

क्रम-क्रम से जल के एक-एक बूँद के गिरने से घड़ा भर जाता है। यही सब विद्या, धर्म और धन के संचय का भी कारण है ॥ २२ ॥

वयसः परिणामेऽपि यः खलः खल एव सः।
सम्पक्वमपि माधुर्यं नोपयातीन्द्रवारुणम् ॥ २३ ॥

दो० बड़ी बयस बीतेहु रहै, खल खल ही को गोत।
इन्दोरन पाक्यो जऊ, तऊ न मीठो होत ॥ २३ ॥

वय के परिणाम पर भी जो खल रहता है, सो खल ही बना रहता है; क्योंकि अत्यन्त पका भी इन्द्रवारुण का फल मीठा नहीं होता ॥२३॥

तेरहवाँ अध्याय

मुहूर्तमपि जीवेच्च नरः शुक्लेन कर्मणा।
न कल्पमपि कष्टेन लोकद्वयविरोधिना ॥ १ ॥

दो० भले घरी द्वै ही जियै नर करि अच्छे कर्म।
नहीं कलप भरि लोक दुहुँ दुखप्रद किये अधर्म ॥ १ ॥

उत्तम कर्म से मनुष्यों का मुहूर्त्त भर का जीना भी श्रेष्ठ है, पर दोनों लोकों के विरोधी दुष्ट कर्म से कल्प भर का भी जीना उत्तम नहीं ॥ १ ॥

गते शोको न कर्तव्यो भविष्यं नैव चिन्तयेत्।
वर्तमानेन कालेन प्रवर्तन्ते विचक्षणाः ॥ २ ॥

दो० बीते को सोचै नहीं, नहिं भविष्य निरधार।
बर्तमान ही को चतुर देखैं, करैं बिचार ॥ २ ॥

बीते का शोक न करना चाहिए। भावी की चिन्ता समझदार लोग नहीं करते। किन्तु वर्तमान काल के अनुसार प्रवृत्त होते हैं ॥२॥

स्वभावेन हि तुष्यन्ति देवाः सत्पुरुषाः पिता ।
ज्ञातयः स्नानपानाभ्यां वाक्यदानेन पण्डिताः ॥३॥

दो० देव, पिता, अच्छे पुरुष, होहिं प्रसन्न सुभाय ।
खान-पान सों जाति के पंडित सुबचन पाय ॥ ३ ॥

यह निश्चय है कि देवता, सत्पुरुष और पिता स्वभाव ही से, बन्धु स्नान और पान से और पण्डित प्रिय वचन से सन्तुष्ट होते हैं ॥३॥

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतानि च सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ ४ ॥

दो० आयु, कर्म, विद्या, बिभव और मृत्यु ये पाँच ।
गर्भहि में सिरजे गये, यहै जानिए साँच ॥ ४ ॥

आयुर्दाय, कर्म, धन, विद्या और मरण, ये पाँच बातें जब जीव गर्भ में रहता है, उसी समय सिरजी जाती हैं ॥ ४ ॥

अहो बत विचित्राणि चरितानि महात्मनाम् ।
लक्ष्मीं तृणाय मन्यन्ते तद्भारेण नमन्ति च ॥ ५ ॥

दो० अहो महात्मन के चरित हैं बिचित्र सु उदार ।
तृन सम लछमी को गनैं, झुकैं पाय तिहि भार ॥ ५ ॥

महात्माओं के चरित्र विचित्र हैं, क्योंकि वे लक्ष्मी को तृणसम मानते हैं, पर उसके भार से नम्र हो जाते हैं ॥ ५ ॥

यस्य स्नेहो भयं तस्य स्नेहो दुःखस्य भाजनम् ।
स्नेहमूलानि दुःखानि तानि त्यक्त्वा वसेत्सुखम् ॥६॥

दो० जाहि नेह, भय ताहि को, नेह दुःख आधार।
नेह-मूल दुख, ताहि तजि सुख है सबै प्रकार ॥ ६ ॥

जिसको किसी में प्रीति रहती है उसी को भय होता है। स्नेह दुःख का भाजन और सब दुःखों का कारण है। इस कारण उसे छोड़कर सुखी होना उचित है ॥ ६ ॥

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ॥ ७ ॥

रो० छं० प्रथमहिं करै उपाय, बिपद आवन नहिं पावै।
सूझै जाको तुरत बिपद जब आगे आवै।
दोऊ सुख सों रहैं; किन्तु देखै होनी जो।
ताको नास अवश्य, जानिए नहीं बचै सो ॥ ७ ॥

आनेवाले दुःख के पहले से उपाय करनेवाला और जिसकी बुद्धि में विपत्ति आ जाने पर शीघ्र ही उपाय भी आ जाता है, ये दोनों सुख से बढ़ते हैं। और जो यह सोचता है कि भाग्यवश जो होनेवाला है सो अवश्य होगा, वह विनष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥ ८ ॥

रो० छं० जो है नृप धर्मिष्ठ, प्रजा हू वैसी होई।
नृप के पापी भये प्रजाहू पापी होई ॥
सम नृप तौ सम प्रजा, प्रजा राजा-अनुगामी।
वैसी ह्वै है प्रजा, होइ है जैसो स्वामी ॥ ८ ॥

यदि राजा धर्मात्मा हो तो प्रजा भी धर्मिष्ठ; पापी हो तो पापी और सम हो तो सम होती है; क्योंकि सब प्रजा राजा के अनुसार चलती है। जैसा राजा है, वैसी ही प्रजा भी होगी ॥ ८ ॥

जीवन्तं मृतवन्मन्ये देहिनं धर्मवर्जितम्।
मृतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवी न संशयः॥ ९॥

दो० जीवित ही मृत-तुल्य है जो नर धर्म-बिहीन।
धर्मनिष्ठ मृत हू भये चिर लौं रहै नबीन॥ ९॥

धर्मरहित होकर जीना मृतक के समान है। धर्मात्मा पुरुष मरने पर भी चिरंजीवी होता है; क्योंकि उसकी कीर्ति सदा अमर रहती है॥ ९॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥ १०॥

दो० धर्म अर्थ अरु काम त्यों मुक्ति एक नहिं जासु।
अजा-कण्ठ-कुचतुल्य ही वृथा जनम है तासु॥ १०॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इनमें से जिसके एक भी नहीं रहता, उसका जन्म ही बकरी के गले के स्तन के समान निरर्थक है॥१०॥

दह्यमानाः सुतीव्रेण नीचाः परयशोऽग्निना।
अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते॥ ११॥

चौ० परजस आगि तीव्र सों जरई। नीच प्रथम समता अनुसरई॥
जब नहिं सरवरि करि वह पावै। तब ताकी निन्दा मुख लावै॥११॥

दुर्जन दूसरे की कीर्तिरूप दुस्सह अग्नि से जलकर सब उसके पद को नहीं पाते, तब उसकी निन्दा करने लगते हैं॥ ११॥

बन्धाय विषयासंगो मुक्त्यै निर्विषयं मनः।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः॥ १२॥

दो० विषय संग बन्धन तथा मुक्ति विषय को त्याग।
मोक्ष-बन्ध-कारन मनहि को बिराग, अनुराग ॥ १२ ॥

विषय में आसक्त मन बन्धन का और विषय से रहित मुक्ति का हेतु है। मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है ॥१२॥

देहाभिमाने गलिते ज्ञानेन परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥ १३ ॥

दो० परमात्मा के ज्ञान सों मिटे देह-अभिमान।
जाय जितै जित मन तितै तितै समाधि-प्रमान ॥ १३ ॥

परमात्मा के ज्ञान से देह के अभिमान का नाश हो जाने पर जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ समाधि ही है ॥ १३ ॥

ईप्सितं मनसः सर्वं कस्य सम्पद्यते सुखम्।
दैवायत्तं यतः सर्वं तस्मात्सन्तोषमाश्रयेत् ॥ १४ ॥

दो० मनचाहो सुख सब कबै, काको मिले अदोष।
दैव अधीनहि जानि सब, करिये मन सन्तोष ॥ १४ ॥

मन का चाहा हुआ सब सुख किसको मिलता है! कारण, सब दैव के वश है, इससे सन्तोष ग्रहण करना उचित है ॥ १४ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो गच्छति मातरम्।
तथा यच्च कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १५ ॥

दो० जैसे गाय हजार में बच्छ माय ढिग जाय।
तैसे कीन्हो कर्म हू कर्त्ता पाछे धाय ॥ १५ ॥

जैसे सहस्रों धेनु के रहते हुए भी बछड़ा माता ही के निकट जाता है, वैसे जो कुछ कर्म मनुष्य करता है, वह उसके पीछे-पीछे चलता है ॥ १५ ॥

अनवस्थितकार्यस्य न जने न वने सुखम् ।
जनो दहति संसर्गाद्वनं सङ्गविवर्जनात् ॥ १६ ॥

दो० अथिर काज कीन्हे न सुख, बसती कै बन माहिं ।
दहत ताहि जन संग सों, बन बिन संग सदाहिं ॥ १६ ॥

जिसके कार्य की स्थिरता नहीं रहती वह न जन में सुख पाता है, न वन में । जन उसको संसर्ग से जलाता है और वन संग के त्याग से ॥ १६ ॥

खनित्वा हि खनित्रेण भूतले वारि विन्दति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ १७ ॥

दो० खोदि फावड़े सों मिलै, जल ज्यों पृथ्वी माहिं ।
त्यों सेवा कीन्हे मिलै, विद्या हू गुरु पाहिं ॥ १७ ॥

जैसे फावड़े से खोदकर नर पाताल के जल को पाता है वैसे ही गुरुगत विद्या को सेवक शिष्य पाता है ॥ १७ ॥

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधियश्चार्याः सुविचार्यैव कुर्वते ॥ १८ ॥

दो० फल मिलिबो बस कर्म के, बुद्धि कर्म-अनुसार ।
तऊ सुमति सज्जन करैं, काज बिचारि उदार ॥ १८ ॥

यद्यपि फल पुरुष के कर्म के अधीन रहता है और बुद्धि भी कर्म के अनुसार ही चलती है, तथापि विवेकी महात्मा लोग विचार करके ही काम करते हैं ॥ १८ ॥

एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिवन्दते ।
श्वानयोनिशतं भुक्त्वा चाण्डालेष्वभिजायते ॥ १९ ॥

दो० एकाक्षरदाता गुरुहि, जो नर बन्दहि नाहिं।
होत स्वान सौ जन्म लौं, पुनि चंडालन माहिं॥ १९॥

जो एक अक्षर भी देनेवाले गुरु की बन्दना नहीं करता वह कुत्ते की सौ योनि को भोगकर चाण्डालों में जन्मता है॥ १९॥

युगान्ते प्रचलेन्मेरुः कल्पान्ते सप्त सागराः।
साधवः प्रतिपन्नार्थान्न चलन्ति कदाचन॥ २०॥

दो० कल्प-अन्त सागर चलैं और मेरु जुग-अन्त।
डिगैं नहीं सिद्धान्त सों, स्वीकृत मत सों सन्त॥ २०॥

युग के अन्त में सुमेरु चलायमान होता है और कल्प के अन्त में सातों सागर। परन्तु साधु लोग जो अंगीकार करते हैं, उससे कभी नहीं विचलित होते॥ २०॥

चौदहवाँ अध्याय

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि अन्नमापः सुभाषितम्।
मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते॥ १॥

दो० सुबचन, जल अरु अन्न हैं तीनि रतन महि माहिं।
ते मूरुख, जे नर कहैं, रतन पखानन काहिं॥ १॥

पृथ्वी में जल, अन्न और प्रिय वचन, ये तीन ही रत्न हैं। मूढ़ों ने पाषाण के टुकड़ों में रत्न की संज्ञा दी है॥ १॥

आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम्।
दारिद्र्यदुःखरोगाणि बन्धनव्यसनानि च॥ २

दो० दारिद, बन्धन, दुख, ब्यसन, रोग-भोग जग माँहि ।
निज पातक-तरु के सबै ये फल देखे जाँहि ॥ २ ॥

जावों को अपने पापरूप वृक्ष से दरिद्रता, रोग, दुःख, बन्धन और विपत्ति ये फल मिलते हैं ॥ २ ॥

पुनर्वित्तं पुनर्मित्रं पुनर्भार्या पुनर्मही ।
एतत्सर्वं पुनर्लभ्यं न शरीरं पुनः पुनः ॥ ३ ॥

दो० मित्र, मही, तिय सम्पदा फेरि पाइए खोइ ।
पै सरीर पुनि नहिं मिलै, जानि लेहु सब कोइ ॥ ३ ॥

धन, मित्र, स्त्री, पृथ्वी, ये सब फिर-फिर मिलते हैं, परन्तु मनुष्य-शरीर फिर-फिर नहीं मिलता ॥ ३ ॥

बहूनां चैव सत्त्वानां समवायो रिपुञ्जयः ।
वर्षन्धाराधरो मेघस्तृणैरपि निवार्यते ॥ ४ ॥

दो० बहु निरबल मिलि अरि सबल जीति लेत, सति एह ।
तृन मिलि बरखा मेह को रोकत, राखत गेह ॥ ४ ॥

यह निश्चय है कि बहुत जनों का समुदाय शत्रु को भी जीत लेता है, जैसे तृणसमूह (छप्पर) भी वृष्टि की धारा के धरनेवाले मेघ का निवारण करता है ॥ ४ ॥

जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि ।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तितः ॥ ५ ॥

छं० गुप्त सुनाये खलहिं, तेल पानी में नाये ।
दान सुपात्रहि दिये, सुमति कहँ शास्त्र पढ़ाये ॥
ये थोरेहू बस्तु-सक्ति सों आपहि अक्षय ।
फैलि जात अति द्रुतहि, नीति को है यह निश्चय ॥ ५ ॥

जल में तेल, दुर्जन में गुप्त वार्त्ता, सुपात्र में दान और बुद्धिमान् में शास्त्र, ये थोड़े हों तो भी वस्तु की शक्ति से आप विस्तार को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५ ॥

धर्माख्याने श्मशाने च रोगिणां या मतिर्भवेत् ।
सा सर्वदैव तिष्ठेच्चेत् को न मुच्येत बन्धनात् ॥ ६ ॥

दो० मरघट, धर्मकथान मैं भये रोग-संजुक्त ।
जो मति होइ, सोई रहै, तो को होइ न मुक्त ॥ ६ ॥

धर्मविषयक कथा के समय, श्मशान में और रोगियों को जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह यदि सदा रहती तो कौन बन्धन से मुक्त न होता ? ॥ ६ ॥

उत्पन्नपश्चात्तापस्य बुद्धिर्भवति यादृशी ।
तादृशी यदि पूर्वं स्यात्कस्य न स्यान्महोदयः ॥ ७ ॥

दो० चूके पै पछताइ कै जो मति उपजै, सोइ—
पहिले ही जो होइ तौ केहि की बाढ़ि न होइ ॥ ७ ॥

निन्दित कर्म के करने के पश्चात् पछतानेवाले पुरुष को जैसी बुद्धि उत्पन्न होती है वैसी ही यदि पहले होती तो किसे बड़ी समृद्धि न होती ॥ ७ ॥

दाने तपसि शौर्ये वा विज्ञाने विनये नये ।
विस्मयो न हि कर्तव्यो बहुरत्ना वसुन्धरा ॥ ८ ॥

दो० दान, बिनय, बिज्ञान, नय, तप सुबीरता माहिं ।
बिस्मय जनि करु, रत्न बहु बसुन्धरा बिच आहिं ॥ ८ ॥

दान में, तप में, शूरता में, विज्ञता में, सुशीलता में और नीति में विस्मय नहीं करना चाहिए । कारण, पृथ्वी में बहुत रत्न हैं ॥ ८ ॥

दूरस्थोऽपि न दूरस्थो यो यस्य मनसि स्थितः।
यो यस्य हृदये नास्ति समीपस्थोऽपि दूरतः॥ ९॥

दो० जो जाके मन मैं रहै सो बसि दूर, न दूर।
पास रहै, हिय मैं नहीं, सो सुदूर भरपूर॥ ९॥

जो जिसके हृदय में रहता है वह यदि दूर हो तो भी दूर नहीं है। जो जिसके मन में नहीं है, वह यदि समीप हो तो भी दूर है॥ ९॥

यस्माच्च प्रियमिच्छेत्तु तस्य ब्रूयात्सदा प्रियम्।
व्याधो मृगवधं कर्तुं गीतं गायति सुस्वरम्॥ १०॥

दो० जासों प्रिय पायो चहै तासों प्रिय ही बोल।
व्याध मृगहि मारै तऊ गावै मधुर अमोल॥ १०॥

जिससे प्रिय की वाञ्छा हो उससे प्रिय बोलना उचित है। जैसे व्याध मृग के वध के निमित्त मधुर स्वर से गीत गाता है॥ १०॥

अत्यासन्ना विनाशाय दूरस्था न फलप्रदाः।
सेव्यतां मध्यभागेन राजा वह्निर्गुरुः स्त्रियः॥ ११॥

दो० राजा, गुरु, तिय, आगि ये मध्य भाव सों सेइ।
निकट नास-भय, दूर के रहे नहीं फल देइ॥ ११॥

राजा, अग्नि, गुरु और स्त्री, इनको मध्यावस्था से सेवन करना चाहिए; क्योंकि ये अत्यन्त निकट होने पर विनाश के हेतु होते हैं और दूर रहने पर फल नहीं देते॥ ११॥

अग्निरापः स्त्रियो मूर्खसर्पौ राजकुलानि च।
नित्यं यत्नेन सेव्यानि सद्यः प्राणहराणि षट्॥ १२॥

जब तक सब जनों को आनन्द देनेवाली वाणी प्रारम्भ नहीं होती तब तक कोयल चुप ही रहता है ॥ १८ ॥

धर्मं धनं च धान्यं च गुरोर्वचनमौषधम् ।
सुगृहीतं च कर्तव्यमन्यथा तु न जीवति ॥ १६ ॥

दो० धर्म, धान्य, धन, गुरु-वचन औषध लेहु सँभारि ।
ऐसो जो नर नहिं करै मरै सुनीति बिसारि ॥ १६ ॥

धर्म, धन, धान्य, गुरु का वचन और औषध, ये सुगृहीत करने चाहिए । जो ऐसा नहीं करता वही नहीं जीता ॥ १६ ॥

त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम् ।
कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यतः ॥ २० ॥

दो० तजौ दुष्टजन संग को, भजौ साधु जन-संग ।
राति-दिवस करु पुन्य, जग जानु अनित्य प्रसंग ॥ २० ॥

खल का संग छोड़ साधु की संगति को स्वीकार करो । दिन-रात पुण्य किया करो और ईश्वर का नित्य स्मरण करो । कारण, संसार अनित्य है ॥ २० ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु ।
तस्य ज्ञानेन मोक्षेण किं जटाभस्मलेपनैः ॥ १ ॥

दो० सब जीवन पै जो करै दया ज्ञान सो ताहि—
जटा-भसम सों, मुक्ति सों काज कौन हू नाहिं ॥ १ ॥

जिसका चित्त सब प्राणियों पर दया से पिघल जाता है उसको ज्ञान से, मोक्ष से, जटा से और विभूति के लेप से क्या ? ॥ १ ॥

एकमेवाक्षरं यस्तु गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत् ।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्त्वा चानृणी भवेत् ॥ २ ॥

दो० शिष्यहि अच्छर एक हू जो गुरु देइ पढ़ाइ ।
अस नहिं कछु, जो वाहि दै उरिन शिष्य ह्वै जाइ ॥ २ ॥

जो गुरु शिष्य को एक ही अक्षर का उपदेश करता है, पृथ्वी में ऐसा द्रव्य नहीं है जिसको देकर शिष्य उससे उऋण हो जाय ॥२॥

खलानां कण्टकानां च द्विविधैव प्रतिक्रिया ।
उपानन्मुखभंगो वा दूरतो वा विसर्जनम् ॥ ३ ॥

दो० खल अरु कंटक की दवा है देखी भरपूर ।
पनही सों मुँह चूर कै कै तजि दीजै दूर ॥ ३ ॥

खल और काँटा, इनका दो ही प्रकार का उपाय है—जूतों से मुँह को तोड़ना या दूर से त्याग ॥ ३ ॥

कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणं
बह्वाशिनं निष्ठुरभाषिणं च ।
सूर्योदये चास्तमिते शयानं
विमुञ्चति श्रीर्यदि चक्रपाणिः ॥ ४ ॥

चौ० बसन, दसन मैले जो राखै । बहुत खाय अरु निष्ठुर भाखै ।
साँझ-सबेरे सोवत होवै । लछमीपति हू लछमी खोवै ॥ ४ ॥

मलिन वस्त्रवाले को, जो दाँतों के मैल को दूर नहीं करता

उसको, बहुत भोजन करनेवाले को, कटुभाषा को, सूर्य के उदय और अस्त के समय में सोनेवाले को लक्ष्मी छोड़ देती है, चाहे वह विष्णु भी हो ॥ ४ ॥

त्यजन्ति मित्राणि धनैर्विहीनं
दाराश्च भृत्याश्च सुहृज्जनाश्च ।
तं चार्थवन्तं पुनराश्रयन्ते
ह्यर्थो हि लोके पुरुषस्य बन्धुः ॥ ५ ॥

दो० मित्र, तिया, चाकर, सुहृद तजैं देखि धनहीन ।
धन लखि पुनि आश्रय गहैं, धन ही बन्धु प्रबीन ॥ ५ ॥

मित्र, स्त्री, सेवक, बन्धु, ये धनहीन पुरुष को छोड़ देते हैं। वही पुरुष यदि धनी हो जाता है, तो फिर उसी का आश्रय लेते हैं। धन ही लोक में बन्धु है ॥ ५ ॥

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दश वर्षाणि तिष्ठति ।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं तद्विनश्यति ॥ ६ ॥

दो० जोरयो धन जु अनीति सों, ठहरै सो दस साल ।
मिटै ग्यारहें साल मैं, जानि लेहु ततकाल ॥ ६ ॥

अनीति से अर्जित धन दस वर्ष पर्यन्त ठहरता है। ग्यारहवें वर्ष के प्राप्त होने पर मूलसहित नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

अयुक्तं स्वामिनो युक्तं युक्तं नीचस्य दूषणम् ।
अमृतं राहवे मृत्युर्विषं शङ्करभूषणम् ॥ ७ ॥

दो० समरथ को दोषहु छजै, नीचहि गुनहु न साज ।
अमृत भयो बिष राहु को, बिष शिव-कंठ बिराज ॥ ७ ॥

अयोग्य वस्तु भी समर्थ को योग्य होती है और योग्य भी दुर्जन को दूषण। अमृत ने राहु को मृत्यु दी, और विष भी शंकर को भूषण हुआ ॥ ७ ॥

तद्भोजनं यद्द्विजभुक्तशेषं
तत्सौहृदं यत्क्रियते परस्मिन्।
सा प्राज्ञता या न करोति पापं
दम्भं विना यः क्रियते स धर्मः ॥ ८ ॥

छं० जो बिप्र-भोजन सों बचो, उत्तम सोई आहार है।
जो गैर सों करिये, सोई सौहृद, उचित उपकार है॥
जो पाप सों दूरहि रहै पांडित्य को सो सार है।
जो देहि दंभ बराय, सोई धर्म को आचार है ॥ ८ ॥

वही भोजन है जो ब्राह्मण के भोजन से बचा है, वही मित्रता है जो दूसरों में की जाती है, वही बुद्धिमानी है जो पाप नहीं करती और जो बिना दम्भ के किया जाता है वही धर्म है ॥ ८ ॥

मणिर्लुण्ठति पादाग्रे काचः शिरसि धार्यते।
क्रयविक्रयवेलायां काचः काचो मणिर्मणिः ॥ ९ ॥

दो० मनि पाँयन पै लोट ही, सीस धारिये काँच।
पै बजार में दोउ की मरजादा है साँच ॥ ९ ॥

मणि पैर के आगे लोटती हो, काँच शिर पर भी रक्खा हो, परन्तु क्रय-विक्रय के समय काँच काँच ही और मणि मणि ही रहता है ॥९॥

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या
अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।

विधिवंशात्परदेशमुपागतः
कुटजपुष्परसं बहु मन्यते ॥ १५ ॥

नलिनी के दल माहिं भौंर जो सदा निबहतो ।
कमलिनि के मकरन्द-मदालस ह्वै जो रहतो ॥
सोई बिधि-बस आजु पर्‌यो परदेस मँझारी ।
कुटज-कुसुम के रसहि बहुत मानै मन मारी ॥ १५ ॥

यह भौंरा जब कमलिनी के पत्तों के मध्य था, तब कमलिनी के फूल के रस को पीकर आलसी बना रहता था, पर अब दैववश परदेश में आकर कटसरैया के फूल को बहुत समझता है ॥ १५ ॥

पीतः क्रुद्धेन तातश्चरणतलहतो वल्लभो येन रोषा-
दाबाल्याद्विप्रवर्यैः स्ववदनविवरे धार्यते वैरिणी मे ।
गेहं मे छेदयन्ति प्रतिदिवसमुमाकान्तपूजानिमित्तं
तस्मात्खिन्नासदाहंद्विजकुलनिलयंनाथयुक्तं त्यजामि १६

कोप करि सागर जनक मेरो बिप्र पियो,
पिय के हिये मैं जाय मारी बिप्र लात है ।
सौत मेरी बैरिन सरस्वती सो बिप्रन के,
बालपन ही ते मुँह लागी दिन-रात है ॥
संकर के पूजन को पद्म-पुष्प मेरो घर,
तोरत रहत नित नाहिंयै अघात है ॥
नाथ, यासों खिन्न ह्वै उचित ही मैं त्याग कियो,
ब्राह्मन को बंस मोहिं नेक न सोहात है ॥ १६ ॥

लक्ष्मी विष्णु से कहती हैं—जिसने रुष्ट होकर मेरे पिता समुद्र को पी डाला और जिसने क्रोध के मारे मेरे पति के लात मारी,

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण सदा लड़कपन से मेरी सौत सरस्वती को मुँह लगाते हैं और प्रतिदिन पार्वती के पति की पूजा के निमित्त मेरे गृह कमलपुष्प को तोड़ते हैं, हे नाथ! इससे खिन्न होकर मैं उन ब्राह्मणों के घर को सदा छोड़े रहती हूँ॥ १६ ॥

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि
प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत् ।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रि-
र्निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे ॥ १७॥

दो० बहु बन्धन, पै प्रेम को बन्धन है कछु और ।
काठ काटिबे में निपुन बँधै कमल-पुट भौंर ॥ १७ ॥

बन्धन तो बहुत हैं, परन्तु प्रीति की रस्सी का बन्धन और ही है। काठ के छेदने में कुशल भी भौंरा कमल के कोश में असमर्थ हो जाता है ॥ १७ ॥

छिन्नोऽपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्धं
वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम् ।
यन्त्रार्पितो मधुरतां न जहाति चेक्षुः
क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान् कुलीनः १८

गन्ध न चन्दन तजै, काटि हू डारौ वाको ।
गजपति राख्यो बाँधि, तजत पै नहिं लीला को ॥
पेरौ कोल्हू डारि ऊँख छोड़ै न मिठाई ॥
तजै सीलगुन नहिं असील छीनहु ह्वै जाई ॥ १८ ॥

काटा हुआ चन्दन का वृक्ष गन्ध को नहीं त्याग देता, बूढ़ा भी गजपति विलास को नहीं छोड़ता, कोल्हू में पेरने पर भी ऊख मधुरता नहीं छोड़ती, वैसे ही कुलीन जन दरिद्र होने पर भी सुशीलता आदि गुणों का त्याग नहीं करता ॥ १८ ॥

उर्व्यां कोऽपि महीधरो लघुतरो दोर्भ्यां धृतो लीलया
तेन त्वं दिवि भूतले च सततं गोवर्धनो गीयसे ।
त्वां त्रैलोक्यधरं वहामि कुचयोरग्रे न तद् गण्यते
किंवा केशवभाषणेन बहुना पुण्यैर्यशो लभ्यते १९

भू पर भूधर छोटो कोऊ कर पै तुम श्याम, लियो है उठाइए ।
ताते तुम्हैं दिव-भूतल मैं गिरिधारी सबै कहिकै गुन गाइए ॥
धार्यो तिलोकी-अधार, तुम्हैं कुच-नोक पै मैं, कछु सो न गनाइए ।
का कहिबे ते कहा बहुतै, बहु पुन्यन सों जग मैं जस पाइए ॥ १९ ॥

पृथ्वी पर किसी बहुत छोटे पर्वत को बाहुओं के ऊपर अनायास ही धारण किया, इससे आप स्वर्ग और पृथ्वीतल में सर्वदा गोवर्धन कहलाते हैं। पर मैं तीनों लोकों को धारण करनेवाले आपको केवल कुचों के अग्रभाग में धारण करती हूँ, यह कुछ भी नहीं गिना जाता। हे केशव ! बहुत कहने से क्या, पुण्यों से यश मिलता है ॥ १९ ॥

सोलहवाँ अध्याय

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः।
नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितं
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ॥ १ ॥

स० जगदीस्वर के पग ध्याये नहीं विधि सों, हित मुक्ति के, मोह सने।
अरु स्वर्ग-दुआर उधारनवारो न धर्म कमायो अयानपने ॥
नव नारी-पयोधर पीन नहीं हिय लाये अहो कबहूँ सपने।
हम केवल माय के जोबन के बन काटन को हैं कुठार बने ॥ १ ॥

संसार में मुक्त होने के लिए विधि से ईश्वर के चरणों का ध्यान मुझ से न हुआ, स्वर्गद्वार के फाटक को खोलने में समर्थ धर्म का भी अर्जन न किया और स्वप्न में भी स्त्री के दोनों पीनस्तन और जंघाओं का आलिंगन न किया, मैं माता की जवानीरूप वृक्ष को काटने में केवल कुल्हाड़ा ही हुआ ॥ १ ॥

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः।
हृदये चिन्तयन्त्यन्यं न स्त्रीणामेकतो रतिः ॥ २ ॥

दो० बोलैं औरन सों, लखैं औरन बिभ्रम साथ।
मन मैं ध्यावैं और को, तिय न रमैं इक नाथ ॥ २ ॥

भाषण दूसरे के साथ करती हैं, दूसरे को विलास से देखती हैं और हृदय में दूसरे हा की चिन्ता करती हैं, स्त्रियों की प्रीति एक में नहीं रहती ॥ २ ॥

यो मोहान्मन्यते मूढो रक्तेयं मयि कामिनी ।
स तस्या वशगो भूत्वा नृत्येत्क्रीडाशकुन्तवत् ॥ ३ ॥

दो० मूढ़ जु मानै मोह सों मो पै मोही नारि ।
सो वाके बस नाच ही कठपुतरी-अनुहारि ॥ ३ ॥

जो मूर्ख अविवेक से समझता है कि यह कामिनी मेरे ऊपर प्रेम करती है, वह उसके वश होकर खेल के पक्षी या कठपुतली के समान नाचा करता है ॥ ३ ॥

कोऽर्थान्प्राप्यनगर्वितोविषयिणः कस्यापदोऽस्तंगताः
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः को नाम राजप्रियः।
कः कालस्य न गोचरत्वमगमत्कोऽर्थी गतो गौरवं
को वा दुर्जनवागुरानिपतितः क्षेमेण यातः पथि॥४॥

अभिमान कियो धन पाय न को ? विषयी को विपत्ति बचाय गयो ?
मन नारि कियो बस काको नहीं ? प्रिय राजन को बनि को रिझयो ?
अरु जाचक गौरव कौन लह्यो ? बस काल के को न अहो अथयो ?
खल के परि फंदे कहौ जग-मारग छेम सों कौन है पार भयो ? ॥ ४ ॥

धन पाकर अभिमानी कौन न हुआ ? किस विषयी की विपत्ति नष्ट हुई ? पृथ्वी में किसके मन को स्त्रियों ने खण्डित न किया ? राजा को प्रिय कौन हुआ ? काल के वश कौन नहीं हुआ ? किस याचक ने गुरुता पाई ? तथा दुष्ट की दुष्टता में पड़कर संसार के पथ में कुशलता से कौन गया ? ॥ ४ ॥

न निर्मितः केन न दृष्टपूर्वः
न श्रूयते हेममयः कुरङ्गः ।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य
विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥ ५ ॥

दो० कोउ न लिख्यो, न लख्यो, सुन्यो मृग सुबरन को गात ।
तऊ राम दौरे, सुमति नास-समय फिरि जात ॥ ५ ॥

सोने का मृग न पहले किसी ने रचा, न देखा और न किसी को सुन पड़ता है, तो भी रघुनन्दन की तृष्णा उस पर हुई । सच है विनाश के समय बुद्धि विपरीत हो जाती है ॥ ५ ॥

गुणैरुत्तमतां यान्ति नोच्चैरासनसंस्थिताः
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते ॥ ६ ॥

दो० ऊँची बैठक सों नहीं, गुन सों उत्तम होइ ।
महलन बैठो, नहिं गरुड़ होत, काग कहुँ कोइ ॥ ६ ॥

प्राणी गुणों से उत्तमता पाते हैं, ऊँचे आसन पर बैठकर नहीं । कोठे के ऊपर बैठा [illegible] क्या गरुड़ हो जाता है ॥ ६ ॥

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते न महत्योऽपि सम्पदः ।
पूर्णेन्दुः किं तथा वन्द्यो निष्कलङ्को तथा कृशः ॥ ७ ॥

दो० बड़ी संपदा कहुँ नहीं, गुन ही पूजे जाहिं ।
बिन कलंक, कृस बंदहीं, तिमि पूरो ससि नाहिं ॥ ७ ॥

सब स्थान में गुण पूजे जाते हैं, बड़ी सम्पत्ति नहीं । पूर्णिमा का

दो० दान, जज्ञ, बलि, होम ये कर्म होत सब छीन।
अभय-दान नाहीं मिटै, और सुपात्रहि दीन ॥ १४ ॥

दान, यज्ञ, होम, बलि, ये सब नष्ट हो जाते हैं, पर सत्पात्र का दान और सब जीवों को अभय दान ये क्षीण नहीं होते ॥१४॥

तृणं लघु तृणात्तूलं तूलादपि च याचकः।
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं याचयिष्यति ॥१५॥

छं० तृन सब सों लघु, रुई तृनहु सों हलुकी जानौ।
वाहू सों लघु महा जाचकहि निहचै मानौ ॥
नहिं उड़ाइ लै जाइ जाचकहि पवनहु, यासों—
मोसों माँगै कछू न यह, याही दुबिधा सों ॥ १५ ॥

तृण सबसे लघु होता है, तृण से रुई हलकी होती है, रुई से भी याचक। इसे वायु इसलिए नहीं उड़ा ले जाता कि वह समझता है, यह मुझसे भी माँगेगा ॥ १५ ॥

वरं प्राणपरित्यागो मानभङ्गेन जीवनात्।
प्राणत्यागे क्षणं दुःखं मानभङ्गे दिने दिने ॥ १६ ॥

दो० मरिबो भलो गँवाय कै मान जिये ते जानु।
मरे छिनहि दुख, मान बिन दिन दिन दुख अनुमानु ॥ १६ ॥

मानभंगपूर्वक जीने से प्राण का त्याग श्रेष्ठ है। प्राणत्याग के समय क्षण भर दुःख होता है, पर मान का नाश होने पर दिन-दिन ॥१६॥

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता ॥ १७ ॥

दो० प्रिय बोले सब खुस रहैं, प्रिय ही बोलो मीत।
बचनन माहिं दरिद्रता, कौन गाँव की रीत ? ॥ १७ ॥

मधुर वचन के बोलने से सब जीव सन्तुष्ट होते हैं इस कारण उसी का बोलना योग्य है—वचन में दरिद्रता क्यों ॥ १७ ॥

संसारविषवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
सुभाषितं च सुस्वादु सङ्गतिः सज्जने जने ॥ १८ ॥

दो० जग-बिष-तरु के अतिमधुर सुधासरिस फल दोइ।
स्वाद सुभाषित को तथा सुजनसंग जो होइ ॥ १८ ॥

संसाररूप विषवृक्ष के दो ही फल हैं—रसीला प्रिय वचन और सज्जन के साथ संगति ॥ १८ ॥

जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः।
तेनैवाभ्यासयोगेन देही चाभ्यस्यते पुनः ॥ १९ ॥

दो० दान, पठन, तप को जु है जनम जनम अभ्यास।
वाही सों इनको बहुरि होत आय परकास ॥ १९ ॥

जो जन्म-जन्म दान, अध्ययन और तप का अभ्यास किया जाता है, उस अभ्यास के योग से मनुष्य फिर-फिर उनका अभ्यास करता है ॥ १९ ॥

पुस्तकेषु च या विद्या परहस्तेषु यद्धनम्।
उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद्धनम् ॥ २० ॥

दो० पोथी की विद्या तथा धन जु पराये हाथ।
देहिं न कबहूँ ये दोऊ समय परे पै साथ ॥ २० ॥

जो विद्या पुस्तकों में और जो धन दूसरों के हाथों में रहता है, काम पड़ने पर न वह विद्या काम देती है, और न वह धन ॥ २० ॥

सत्रहवाँ अध्याय

पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ ।
सभामध्ये न शोभन्ते जारगर्भा इव स्त्रियः ॥ १ ॥

चौ० केवल पोथी लै पढ़ि लीनी । गुरु सों पढ़्यो, न सेवा कीनी ।
सभा बीच सो सोह न ऐसे । जार-गर्भ जुवती जग जैसे ॥ १ ॥

जिन्होंने केवल पुस्तक के आधार पर पढ़ लिया, गुरु के निकट न पढ़ा, वे सभा के बीच में व्यभिचार से गर्भवाली स्त्रियों के समान नहीं शोभा पाते ॥ १ ॥

कृते प्रतिकृतिं कुर्याद्धिंसने प्रतिहिंसनम् ।
तत्र दोषो न पतति दुष्टे दुष्टं समाचरेत् ॥ २ ॥

छं० तोसों जो जस करै, तुहूँ तैसो करु भाई ।
तोको मारै जौन, ताहि तू मारै जाई ॥
करै दुष्टता जौन दुष्टता वासों करिये ।
दोष न यामैं कछू, वृथा मति मन मैं डरिये ॥ २ ॥

उपकार करने पर प्रत्युपकार करना चाहिए और मारने पर मारना । इसमें अपराध नहीं होता । कारण, दुष्टता करने पर दुष्टता का आचरण करना उचित होता है ॥ २ ॥

यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम् ।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ ३ ॥

दो० दुराराध्य जो, दूर जो, दूर-व्यवस्थित जोइ ।
सबै साध्य तप सों, प्रबल तप जानो सब कोइ ॥ ३ ॥